चित्र मीमांसा के सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

की

डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

अनुसन्धाता

नागेन्द्र नारायण मिश्र

एम०ए०,(जे०आर०एफ०)

पर्यवेक्षक

डॉ० राम किशोर शास्त्री

रीडर

संस्कृत–विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संवत् २०५८ वैक्रमीय

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य
पिता जी पण्डित श्री त्रियुगी नारायण मिश्र एवं
पूज्या माता जी श्रीमती प्राणवन्ती देवी के चरण
कमलों में सादर समर्पित

आत्म निवेदनम्

अज्ञेय विधाना पराम्बा की अदृश्य शक्ति के बल से प्रस्तुत शोध – प्रबन्ध आज पूर्णत्व को प्राप्त कर सका, अतः सर्व प्रथम मैं उन्ही आद्याशक्ति का स्मरण करता हूं। मैं चिर ऋणी हूँ जगत् के साक्षात् ईश्वर स्वरूप, धर्मात्मा, सरल हृदय, उदार पूज्य पिताजी एवं सतत् वन्दनीया अपनी स्नेहसलिला मां का, जिनके प्रसाद स्वरूप आज मैं इस स्थान तक पहुंच सका।

मैं हृदय से आभारी हूं अपने गुरूतुल्य बड़े भइया आचार्य जलेश्वर प्रसाद मिश्र का, जिनके तपः पूत कमलवत् चरणों में बैठकर मैनें विद्याध्ययन किया। इसी कम में अपने मामा पण्डित जय नारायण शुक्ल एवं श्री आद्या शंकर पाण्डेय पूज्य चाचा जी का आभारी हूं।

इलाहाबाद विश्व विद्यालय में शिक्षा प्रारम्भ करने से लेकर प्रकाश स्तम्भ, प्रेरक एवं सब कुछ रहे, अपने पर्यवेक्षक डा० राम किशोर शास्त्री–रीडर, संस्कृत विभाग का मैं चिर ऋणी हूं, जिनके सहयोग से आज इस ग्रन्थ का प्रणयन हो सका।

मैं इसी कम में अपने श्वशुर प्रो० महेन्द्र शुक्ल विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजकीय डिग्री कालेज चकिया, चन्दौली के समय–समय पर प्राप्त मार्ग दर्शन एवं अमृतमयी आशीः के लिये आभारी हूं। आदरणीया माता जी (श्रीमती सत्य शुक्ला) का आशीर्वाद मेरे सम्बल को सदा बनाये रखा।

इस शोध कार्य में स्नेह सलिला, सुधा वर्षिणी जीवन सङ्गिनी डा० (श्रीमती) अंशुमाला मिश्रा हिन्दी विभाग – काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूं, शायद उनके सहयोग के बिना यह दुरूह कार्य इस व्यस्तता में हो पाना संभव नहीं था। मनोरन्जन से वातावरण के सृजन में सहायक अपनी पुत्री अनुश्री

मिश्रा का सहयोग मेरे लिये स्फूर्तिदायक रहा। इसी क्रम में अपनी साली डा० मनीषा शुक्ला संस्कृत विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी का समय–समय पर मिलने वाला सहयोग अवर्णनीय रहा। मैं अपने अनुजों, माधवी, अवनीश, राजन, भानु प्रताप, बृजेश एवं बृजेन्द्र को समय–समय पर उनके द्वारा दिये गये सहयोग के लिये शुभ आशीर्वाद देता हूं। इन सबके अतिरिक्त मैं अपने सभी गुरूजनों, सम्बन्धियों एवं शुभेच्छुओं का हृदय से आभार व्यक्त करता हूं। इन सभी का नाम गिनाकर मैं उनकी विराट संज्ञात्मक शक्ति को सर्वनाम का बौनापन नहीं देना चाहता।

अन्त में मुकेश रस्तोगी इंस्टीट्यूट के देवरंजन एवं देवर्षि को इस कार्य को अतिशीघ्र पूर्ण करने में सहयोग देने के कारण भूरि – भूरि साधुवाद देता हूं।
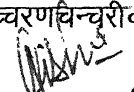
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैं कितना सफल रहा हूं यह सुधी पाठकों, गुरूजनों एवं समीक्षकों के हाथों में सौंपते हुये बस इतना ही कहता हूं कि –

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्

न चापि काव्यम् नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते

मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।'

इति शम्

विद्वच्चरणचन्चरीकः

नागेन्द्र नारायण मिश्र

एम०ए०, जे०आर०एफ०

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद, विश्व विद्यालय

इलाहाबाद

विषय-सूची

प्रस्तावना

प्रस्तावना

परामबा सरस्वती इस चित्र विचित्र संसार में उस पर अवश्य अनुकम्पा करती हैं जो उसकी श्रुति अर्थात शास्त्र एवं यत्न से उपासना करता है "श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।" सौभाग्य से संस्कृत साहित्य का अक्षय भण्डार ऐसे मनीषियों के चिरन्तन, सार्वजनीन, सार्वकालिक, सरस, ललित, सुन्दर कृतियों से भरा पड़ा है। वेदकाल से लेकर आज तक उसी भारती की उपासना नीरक्षीर विवेकी सुधीजन करते चले आ रहे हैं। सभी भली–भाँति जानते हैं कि भारतीय संस्कृत वाड्मय मे समीक्षा का अतिमहत्वपूर्ण स्थान है। सभी ग्रन्थकार पूर्व प्रतिपादित ग्रन्थकारों के मतो का गुण–दोष का विवेचन करके अपने मत का प्रकटन करते हैं और "वादे–वादे जायते तत्वबोधः" इस सरणि (मार्ग) का अनुसरण करते है। अतः संस्कृत साहित्य में समीक्षा का प्रादुर्भाव पूर्व में ही हो चुका था। ऐसा कहा जा सकता है। उन सबके मूल मे भाषा रही। भाषा ही किसी के विचारों के आदान – प्रदान का उचित माध्यम रही। दण्डी ने तो इसके बिना संसार को अन्धकारयुक्त बताया:–––

"इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्
यदिशब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्नं दीप्यते।"[1]

भाषा सम्बन्धी साहित्य में परस्पर तुलनात्मिका प्रवृत्ति को ही समीक्षा कहते है। समीक्षा से समीक्षित साहित्य का पर्यालोचन होता हैं। इस समीक्षा से प्रस्तुत विषय का स्पष्ट प्रकाशन होता हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी दिशा में एक लघु प्रयास है। संस्कृत साहित्याकाश में अलंड्कार शास्त्र के परवर्ती मूर्धन्य विचारकों में अप्पय दीक्षित का नाम

---

१. काव्यादर्श

आदर के साथ लिया जाता है। ये केवल अलंडकार शास्त्री के रूप में ही नहीं अपितु साहित्यशास्त्र के सभी अंगो पर इनका अप्रतिम प्रभाव था। मीमांसा शास्त्र का इनका तलस्पर्शी, तत्वामिनिवेशी ज्ञान यह पूर्णरूपेण स्पष्ट करता हैं कि इस मनीषी ने नव्य, न्याय एवं व्याकरण के साथ–साथ वैदिकवाङ्मय का भी समीक्षात्मक अध्ययन किया है। पूर्वमतों के खण्डन के अनन्तर स्वविषयस्थापन इनकी प्रखर विदग्धता एवं तीक्ष्ण प्रतिभा का प्रमाण है। इस साहित्योद्यान को सुरभित करने वाला तब से २–३ शताब्दियों के भीतर शायद ही कोई विद्वान अपनी मौलिक कृति से उत्पन्न हुआ हो ऐसा कह पाना मुश्किल हैं। दीक्षित जी का समग्र परिवार विद्याव्यसिनी था। इनमें नीलकण्ठ दीक्षित का नाम किसे ज्ञात नहीं होगा?

यह सत्य है कि साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में पण्डितराज के बाद कोई चकाचौंध कर देने वाली कृति नहीं आई किन्तु फिर भी 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द' आज के काव्यशास्त्रीय अध्येताओं के लिए अत्यन्त ही लोकप्रिय हैं।

मेरा तो मानना है कि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज तक के विषय में निरन्तर कुछ न कुछ लिखा जाता रहा और विद्वत् गोष्ठी में वह चर्चा का भी विषय रही। इतना सब कुछ होते हुए भी न जाने क्यों अप्पय दीक्षित जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति के विषय में कुछ भी नही लिखा गया। यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात रही है।

संस्कृत साहित्य के विविध क्षेत्रों में अप्पय दीक्षित का अप्रतिम योगदान रहा है। मैंने प्रसंगतः 'चित्रमीमांसा' विषय को लेकर केवल उन्हीं स्थलों की व्याख्या करने का प्रयास किया जहाँ पण्डितराज जैसे अलंडकार शास्त्री और अन्य ध्वनिवादियों में जबरदस्त गतिरोध था।

पण्डितराज ने इनका खण्डन किया और नागेशभट्ट आदि ने उनका उत्तर दिया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य इन आक्षेप–प्रत्याक्षेपों के बीच उन प्रवृत्तियों का निरूपण

करना रहा है जो ध्वनिवादियों से उपेक्षित चित्रकाव्य को प्रतिष्ठापित करने में सक्रिय रही है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में पण्डितराज ने दीक्षित के परम्परा प्राप्त आचार पोषकता के कारण सिद्वान्तों में आयी शिथिलता पर प्रत्यक्ष या परोक्ष कटुतर शब्दों से प्रहार किया है जिससे उस पर पक्षपात का आरोप भी लगता हैं। यथा–"निशेषच्युतचन्दनं"–इत्यादि श्लोकों में सभी आलंङ्कारिकों ने ध्वनि माना है वहीं पण्डितराज ने दीक्षित के इस मत की कटु आलोचना की।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'चित्रमीमांसा'–के सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन कुल सात अध्यायों में विभक्त है जो निम्नवत् है :–

प्रथम अध्याय :–

प्रथम अध्याय अलंङ्कारशास्त्र के दो उत्तरवर्ती मूर्धन्य मनीषियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित है। इसमें इनके जन्म, शिक्षा एवं इनकी भाषाशैली के प्रस्फुटन के साथ–साथ इनकी अनुपम कृतियों को विस्तार से बतलाया गया है। इस प्रथम अध्याय का नामकरण इसीलिए हमने "अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व" किया हैं। वस्तुतः इनके व्यक्तित्व को समझे बिना इनकी कृतियों तथा पण्डितराज जगन्नाथ एवं दीक्षित के वैमनस्य को नहीं समझा जा सकता हैं और इसी की कुछ न कुछ छाप (दीक्षित के आलोचना करते समय पण्डितराज द्वारा) दिखलाई पड़ती है। इसी कारण पण्डितराज ने कटुक्तियों का प्रयोग किया है जोकि जातिगत वैमनस्य एवं पूर्वाग्रह का द्योतक है।

द्वितीय अध्याय :–

द्वितीय अध्याय में हमने काव्य शास्त्रीय परम्परा में विविध आचार्यो के बीच इन दोनों

विद्वानों का क्या स्थान है तथा काव्यशास्त्र को इन्होंने क्या दिया है? इस पर प्रकाश डाला है। इस अध्याय का नामकरण हमने "काव्यशास्त्र परम्परा में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान" किया है।

<u>तृतीय अध्याय :–</u>

प्रायः सभी ध्वनिवादियों तथा आलंकारिको द्वारा उपेक्षित पड़े चित्रमीमांसा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। ध्वनिवादियों ने तो इसे हेय बतलाया और अवर या अधम काव्य कहा। अतः हमने इसके महत्व एवं इसका मूल प्रतिपाद्य विषय क्या हैं? इस पर प्रकाश डालते हुए इसका नामकरण "चित्रमीमांसा का महत्व एवं उसका मूल प्रतिपाद्य" रखा हैं।

<u>चतुर्थ अध्याय :–</u>

इस अध्याय में काव्य का स्वरूप क्या है, उसके विषय में विविध विद्वानों के क्या मत है, काव्य के कितने भेद हैं तथा चित्रमीमांसा का उस काव्य के भेद के अन्तर्गत का स्थान हैं इसमें अब तक उपेक्षित पड़े चित्रकाव्य को चित्रमीमांसा के आलोक में उचित स्थान पर रखने की दीक्षित द्वारा निर्विहित प्रक्रिया की समीक्षा की हैं। अतः इसी कारण से इस विषय का नाम हमने "काव्यस्वरूप निरूपण एवं चित्रमीमांसा" रखा है।

<u>पंचम अध्याय :–</u>

यहाँ हमने अलंड्कारों का जो वर्गीकरण किया है उसे अलंड्कार सर्वस्वकार से साभार ग्रहण किया है। 'चित्रमीमांसा' मे मात्र १२ अलंड्कारों का ही वर्णन होने से शोधप्रबन्ध की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर रचना शैली के आधार पर उन्हें सादृश्य मूलक नाम दिया गया है। पंचम अध्याय का हमने <u>'सादृश्य मूलक भेदा–भेद प्रधान अलंड्कारों की समीक्षा'</u> नाम दिया है। इसमें हमने निम्न अलंड्कारों के लक्षण, उनके भेद–प्रभेद वैमत्य तथा अलंड्कार ध्वनि तथा अन्त में अपनी समीक्षा या समवलोकन प्रस्तुत किया है। वे चार अलंड्कार निम्नवत् हैः–

१. उपमा २. उपमेयोपमा

३. अनन्वय ४. स्मरण

षष्ठ अध्याय :—

इसका नामकरण आचार्य रूय्यक के वर्गीकरण के आधार पर ही सादृश्य मूलक अलंड्कार के अन्तर्गत आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंड्कारों का लक्षण, मत, वैमत्य, अलंड्कारध्वनि तथा विवादित लक्षण एवं उदाहरणों की समीक्षा की गई हैं, भेद प्रभेद दर्शाया गया है तथा अन्त में अलंड्कारध्वनि दिखाकर समीक्षा की गई है। इसमें निम्न अलंड्कार आते है :—

१.	रूपक	२.	परिणाम	३.	सासन्देह
४.	भ्रान्तिमान	५.	उल्लेख	६.	अपह्नुति

इस अध्याय का नामकरण हमने "आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंड्कारों की समीक्षा" नाम दिया है ।

सप्तम अध्याय :—

इसमें हमने सादृश्यमूलक अलंड्कार के ही भेद अध्यवसायमूलक अलंड्कारों की समीक्षा — परीक्षा की है। इसके अन्तर्गत दो अलंड्कार चित्रमीमांसा में वर्णित है :—

१. उत्प्रेक्षा

२. अतिशयोक्ति

अतः हमने इसका नामकरण अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अलंड्कारों की समीक्षा किया है।

अन्त में हमने उपसंहार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ के गुणों एवं उनकी शैली के दोषों पर दृष्टिपात किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि कुछ स्थलों को छोड़कर पण्डितराज द्वारा किया गया आक्षेप मात्र पण्डित्य प्रदर्शन, दुराग्रह एवं जातिगत वैमनस्य का

ही परिणाम है, जोकि एक प्रखर-समालोचक को शोभा नही देता है किन्तु पण्डितराज की मेधा के भी हम प्रशंसक हैं जिन्होने किसी भी सिद्धान्त को ऑख मूँदकर नहीं माना। उसकी तर्क कसौटी पर जो खरा उतरता है वही मान्य हैं चाहे वह प्रतिकूल ही क्यों न हों। यदि यह 'लघुकृति, रंचमात्र भी सुधीजनों, समीक्षकों तथा जिज्ञासुओं के मनस् को संतृप्त कर सकी तो हम अपने को सौभाग्यशाली समझेगें। यदि कहीं भी इसमें रंचमात्र संतुष्टि दिखलाई पड़ती है तो वस्तुतः उसका श्रेय गुरूवर्य **डा०रामकिशोर शास्त्री**, रीडर संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय को है जिनके चरणकमलों में बैठकर मैंने इस दुर्बोध कृति को उनकी प्रेरणा से लघुरूप देने की कोशिश की । यदि कहीं कोई त्रुटि है तो उसमें वस्तुतः मेरे ही विषय के प्रति अज्ञानता है एतद्दर्थ मृदु एवं कटु वाणी के अभ्यस्त सुधी समीक्षक एवं पाठक हमें क्षमा करेंगें।

विनयावनत्

(एन्०एन०मिश्र)

प्रथम अध्याय

:श्रीः

दक्षिण भारत की विभूति कहे जाने वाले श्रीमान् अप्पय दीक्षित का संस्कृत साहित्य के इतिहास मे गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान है। बहुमुखी प्रतिमा के धनी सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र विद्वान् के रूप मे इस मनीषा ने जिस भी काव्य पटल को स्पर्श किया वह संस्कृत साहित्य के उज्ज्वल आकाश मे झङ्कृत हुए बिना न रह सका। इन्होंने मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के विषयों पर महत्वपूर्ण चिन्तन किये और इस तरह से शताधिक पुस्तकों के प्रणेता के रूप में इनका नाम अमर हैं। साहित्यशास्त्र में इनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता हैं।

दीक्षित के संस्कृत साहित्य मे तीन नाम मिलते हैं। कहीं अप्पय, कहीं अप्पय्य और कहीं अप्प नाम मिलते हैं। 'कुवलयानन्द' के उपसंहार में उन्होंने अपने नाम के लिये अप्प रूप का प्रयोग किया है।[1] रसगंगाधर में पण्डितराजजगन्नाथ अप्पय और अप्पय्य इन दोनों रूपों का प्रयोग करते हैं।[2]

श्री महालिंग शास्त्री ने संस्कृत नाटकों (कौण्डिन्य–प्रहसन, श्रृंगारनारदीय और प्रतिराजसूय) की प्रस्तावना में 'अप्पय' और अप्पय्य' दोनों रूपों का प्रयोग किया है।[3] ''चित्रमीमांसा खण्डन'' की प्रस्तावना के पद्य – ३ में पण्डितराजजगन्नाथ ने अप्पय्य

१– ''अमुं'' कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद् वेडकटपतेर्निरूपाधि कृपानिधेः।।''

कुवलयानन्द पृ० ३०४

२– रसगड्गांधर, पृ० १४ और २२०

३– कौण्डिन्य प्रहसन, पृ० १
कुले महत्यप्ययदीक्षितानां
श्रीत्यागराजाध्वरिणां प्रपौत्रः।
श्रृङार नारदीय, पृ० ४, प्रतिराजसूय, पृ० ४

दीक्षित' का प्रयोग किया है।[1]

पण्डितराजजगन्नाथ के समकालीन कहे जाने वाले दीक्षित जी कांची के सुप्रसिद्ध दार्शनिकों एवं प्रतिभाशाली द्रविण कवियों में माने जाते थे। इनका स्थिति काल १५५४ ई० से १६२६ ई० के बीच माना जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि पण्डितराज एवं दीक्षित दोनों में कटु वैमनस्य था। पण्डितराजजगन्नाथ के साथ इनकी विरोध सम्बन्धी कतिपय किंवदन्तियां द्रष्टव्य है –

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राहमण थे। इन्होंने जयपुर में एक पाठशाला खोला था। संयोगतः एक बार एक काजी को विवाद में पराजित किया। दिल्ली लौटकर उस काजी ने बादशाह से इनकी प्रशंसा की, जिसके परिणाम स्वरूप बादशाह ने इनका काफी सत्कार किया। वहां किसी यवन कन्या पर आसक्त होकर उससे शादी कर लिया। कालान्तर में काशी में पण्डितों में अग्रगण्य दीक्षित के नेतृत्व में पण्डितों ने "यह तो यवनी के संसर्ग से दूषित है" यह कहकर इनका बहिष्कार कर दिया। अतः ये दीक्षित जी के विरोधी हो गये।

अप्पय दीक्षित के विषय में विशेष तिथि का निर्धारण कर सकना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में डा० राघवन का यह कथन समीचीन है – 'एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों में' अप्पय नाम के तीन व्यक्ति हुये हैं। कौन सा प्रमाण किस अप्पय का काल निर्धारित करता है, यह जानना कोई सुगम कार्य नहीं है।[2] प्रो० हुल्श ने अप्पय की शिवादित्यमणिदीपिका से अवतरण उद्धृत करते हुये यह सिद्ध करने की चेष्टा की है

१– सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरिताना –
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरों यदि समुद्धरणं विदध्या –
दस्यामहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि।।

२– Proceedings of the tentu session of all India Oriental Conference - Page 176-180.

कि इस ग्रन्थ के[1] प्रेरक पुरूष बेलूर के राजा चिन्नबोम्म हैं। ये चिन्नबीर के पुत्र हैं। राजा चिन्नबोम्म ऐतिहासिक पुरूष हैं।[2] कुवलयानन्द के उपसंहार ५.[illegible] से स्पष्ट है कि इन्होंने राजा वेंकट के आदेश से 'कुवलयानन्द' की रचना की[3] इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निगमित होता है कि इनका रचनाकाल ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही माना जा सकता है।

इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी की जा सकती है। आचार्य मम्मट की कृति 'काव्यप्रकाश' की 'कमलाकरी टीका' के टीकाकार कमलाकर भट्ट अप्पय का उल्लेख करते हैं। ध्यातव्य है कि यह ईसा की सत्रहवीं शदी के प्रथम चरण की बात है।[4] ईसा की सत्रहवीं शती के मध्यभाग में ही नीलकण्ठ दीक्षित ने 'चिमीमांसादोषधिक्कार' की रचना की और 'चिमीमांसा खण्डन का प्रत्युत्तर दिया है। अतः तथ्यों की संगति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध का माना जाय।

'प्राकृत मणिदीप' को चिन्नवोम्म नरेश की कृति घोषित करके भी दीक्षित ने अपने को चिन्नबोम का समकालीन सिद्ध किया है।[5]

१— South Indian Manuscript report page 90 - 100

२— South Indian Inscriptions Page 69 - 84

३— नियोगाद् वेङ.कटपतोर्निरूपाधि कृपानिधेः।

४— काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास — २२३।

५— कुप्पुस्वामी शास्त्रीः ट्रिनियल केटालाग।

कुवलयानन्द पर लिखित 'रसिकरञ्जनी' नाम की टीका से टीकाकार गङ्गाधर बाजपेयी द्वारा अप्पय को अपने पितामह के भ्राताका गुरू बतलाया[1] जाना भी अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण तक के काल को ही प्रमाणित करता है।[2]

अप्पय दीक्षित, भट्टोजिदीक्षित और पण्डितराजजगन्नाथ ये तीनों सम सामयिक थे। ऐसा काणे ने इस प्रकार सिद्ध किया है – AMS of the चित्र मीमांसा is dated Sumbat 1709 (I.C. 1652 - 53 A.D.) Therefore, both the रंसगङ्गाधर and the चित्र मीमांसा खण्डन were composed before 1650 and after 1641 A.D. and they are the product of a mature mind. Therefore the literary activity of Jagannath lies between 1620 and 1660 A.D.[3]

अप्पय दीक्षित द्रविण, भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्री और पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राहमण थे। तत्कालीन सामाजिक कट्टरता और रूढ़िवादिता के रहते इन तीनों में विरोध होना स्वाभाविक था। इतना सब कुछ होते हुये भी पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित का उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया है – द्रविण शिरोमणिभिः, द्रविण – पुंगवैः इत्यादि।

चित्रमीमांसाखण्डनधिक्कार की रचना करके चित्र मीमांसा खण्डन का उत्तर देने वाले अप्पय दीक्षित के भातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के 'शिवलीलार्णव'[4] से यह पता चलता है कि इन्होंने सौ ग्रन्थों की रचना की। दुर्भाग्यवश अप्पयदीक्षित की बहुत कम

१– अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेन्द्र – रसिकरंजनी

२– काणे – संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – २४८

३– History of Sanskrit Poetics - Kane

४– द्वासप्रतिं प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतंव्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः – शिवलीलार्णव १–६

ही कृतियां उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इनकी कृतियों का वर्गीकरण विषय के आधार पर इस तरह किया जा सकता है।

(क) **भक्ति परक –**

१– शिवध्यान पद्धति

२– पंचरत्न व्याख्या सहित

३– आत्मार्पण

४– मानसोल्लास

५– शिवकर्णामृत

६– आनन्द लहरी चन्द्रिका

७– शिवमहिम कालिका स्तुति

८– रत्नत्रय परीक्षा व्याख्या सहित

९– अरूणाचलेश्वर स्तुति

१०– अपीतकुचाम्बास्तव

११– चन्द्रकलास्तव

१२– शिवार्कमणिदीपिका

१३– शिव पूजा विधि

१४– नयमणिमाला व्याख्या सहित

१५– शिखरिणी माला

१६– शिवतत्वविवेक

१७– ब्रहम तर्कस्तव

१८– आदित्यस्तव रत्न व्याख्या सहित

१९– शिवाद्वैत विनिर्णय

(ख) **माध्वसिद्धान्त परक –**

१– न्याय रत्न माला व्याख्या सहित।

(ग) **अद्वैत वेदान्त परक –**

१– श्री परिमल

२– सिद्धान्तलेश संग्रह

३– नक्षत्रवादावली (वेदान्त)

४– मध्वतन्त्रसुखमर्दन

५– मध्यवमतविध्वंसन

६– न्याय रक्षामणि

(घ) **रामानुज के मत पर आधारित –**

१– वरदराजस्तव

२– वेदान्तदेशिक विरचित पादुका सहस्त्र की व्याख्या

३– श्री वेदान्तदेशिक विरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या

४– नयनमयूखमालिका व्याख्या सहित

(ड.) **पूर्व मीमांसा परक –**

१– नक्षत्रवादावली

२– विधिरसायन

(च) **व्याकरण परक –**

नक्षत्रवादावली[1]

१– कुम्भकोणम् से प्रकाशित इस ग्रन्थ में व्याकरण के कतिपय महत्वपूर्ण विषयों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(छ) **काव्य शास्त्रीय –**

१– वृत्तिवार्तिक

२– चित्रमीमांसा

(३) **कुवलयानन्द –**

इन कृतियों के अन्तर्वस्तु को देखने से यह विदित होता है कि दीक्षित का साहित्यिक क्षेत्र विशाल तो था ही, इसके साथ ही साथ वे मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण, भक्ति और काव्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे।

संस्कृत साहित्य में इनकी ख्याति इनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों के कारण ही है। चित्रमीमांसा, कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिक के साथ इन्होंने एक अन्य ग्रन्थ लक्षण रत्नावली का प्रणयन किया है, जिसमें नान्दी, सूत्रधार, पूर्वरंग, प्रस्तावना इत्यादि नाट्य शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है, किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्रकाशित है। इनमें से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थत्रय का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है –

वृत्तिवार्तिक – इस कृति में दो परिच्छेद हैं, जिसमे अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का बृहद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर यह लगता है कि ये मीमांसकों से प्रभावित हैं। मीमांसकों ने भी अभिधावृत्ति के दीर्घदीर्घतर व्यापार को मानकर व्यञ्जना का खण्डन किया है।

यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि प्रस्तावना भाग में तीनों वृत्तियों के विवेचन का सङ्केत देकर केवल अभिधा एवं लक्षणा का ही विचार किया, व्यञ्जना को छोड दिया।[1]

१– वृत्तयः काव्यसरणावलंकार प्रबन्धभिः।
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति त्रिस्रो निरूपिताः।।
तत्र क्वचित्क्वचिद् वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टंकयितुमस्माभिः कियते वृत्तिवार्तिकम्।। वृत्तिवार्तिक – पृष्ठ – १

<u>चित्रमीमांसा –</u> अपनी इस अनूठी कृति में दीक्षित जी ने निम्न १२ अलड.कारों को लेकर अर्थचित्र काव्य का वैदुष्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है –

१–	उपमा	२–	उपमेयापमा
३–	अनन्वय	४–	स्मरण
५–	रूपक	६–	परिणाम
७–	सन्देह	८–	भ्रान्तिमान्
६–	उल्लेख	१०–	अपह्नुति
११–	उत्प्रेक्षा	१२–	अतिशयोक्ति

किन्तु यह ग्रन्थ भी अपूर्ण है जो कि इस ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से ही स्पष्ट हो जाता है –

अप्पर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला
अनुरूरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटे : ।।[1]

किन्तु कुवलयानन्द से प्रतीत होता है कि चित्रमीमांसा का और अधिक भाग रहा होगा, क्योंकि वहां श्लेषालड.कार के अन्त में लिखा है कि – एतद्विवेचनन्तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्।"[2] इससे यह ध्वनित होता है कि चित्र मीमांसा में श्लेषालड़ंकार का भी विवेचन था, जो कि इस समय उपलब्ध प्रकाशित पुस्तिकों में दृष्टिगत नहीं होता। इसी प्रसड.ग में कुवलयानन्द व्याख्याकार सर्वश्री वैद्यनाथ आचार्य लिखते हैं कि – यद्यप्पुत्प्रेक्षानन्तरम् चित्र मीमांसा न क्वापि दृश्यते।" इससे सिद्ध होता है कि – उनके समय में चित्र मीमांसा उत्प्रेक्षा अलड़.कार तक ही उपलब्ध थी और उसमें इस समय पाया जाने वाला अतिशयोक्ति अलड्कार नहीं था।

१– कुवलयानन्द, पृष्ठ – १०५

२– कुवलयानन्द, पृष्ठ – १०५

इसके विपरीत उत्प्रेक्षा प्रसङ्ग में दीक्षित जी कहते है कि – 'अधिकं निदर्शनालङ्कारप्रकरणे चिन्तयिष्यते'[1]। प्रकारान्तरेणापि कतिचिदस्यामेदान् समासोक्ति प्रकरणे दर्शयिष्यामः।[2] 'अन्यदत्रे विचारणीयं समासोक्ति प्रकरणे विचारयिष्यते'[3]। इन सबसे यही विदित होता है कि अतिशयोक्ति के पश्चात् और भी अलङ्कार थे, जिनकी विवेचना दीक्षित जी करना चाहते थें।

अधुना, चित्र मीमांसा की तीन टीकायें सुलभ हैं –

१– धरानन्द की सुधा

२– बालकृष्ण पायगुण्ड की गूढ़ार्थप्रकाशिका।

३– चित्रालोक (इनके कर्ता का ज्ञान नहीं है)

<u>कुवलयानन्द –</u> आलङ्कारिकों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अति गौरवपूर्ण स्थान है। दीक्षित ने अपने इस तीसरी महत्वपूर्ण कृति में प्रायः लक्ष्य और लक्षण पीयूष वर्ष जयदेव के चन्द्रालोक से लिये हैं।[4] इसमें दीक्षित के निज मनोगत भावों का पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन कर दिया है।

इसकी प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण तो इसकी दस टीकाओं का होना है –

१– रसिकरंजनी – गङ्गाधर बाजपेयी कृत

१– चित्रमीमांसा, पृष्ठ – ३१६

२– वही, पृष्ठ – ३०६

३– वही, पृष्ठ – ३१३

४– कुवलयाननद्र पृष्ठ – २, येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः प्रायास्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते।

२– अलङ्कार चन्द्रिका – कर्त्ता बैद्यनाथ तत्सत्

३– अलङ्कार दीपिका – पण्डित आशाधरकृत

ये तीनों प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सात टीकायें निम्नवत् हैं –

४–५– नागोजी भट्ट कृत अलङ्कार सुधा एवं विषम पद व्याख्यान

६– न्यायवागीश भट्टाचार्य कृत काव्यमंजरी

७– मथुरानाथ कृत टीका

८– कुखीराम कृत टिप्पण

९– देवीदत्त कृत लघ्वलङ्कार चन्द्रिका

१०– वेड्ंगलसूरि कृत बधु रंजनी (अप्रकाशित)

नक्षत्रवादावली एवं प्राकृत मणिदीप–ये दोनों ही ग्रन्थ व्याकरण सम्मत हैं। प्राकृतमणिदीप दीक्षित की रचना है। यह स्वीकार करने में कई आपत्तियां आती हैं, किन्तु इसके उपसंहार वाक्य से यह विदित होता है कि यह अप्पय दीक्षित की ही रचना है। आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ के कृतित्व की ख्याति होना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। प्राकृतमणिदीप में शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों का बहुशः प्रयोग दीक्षित जी को त्रिविक्रमदेव का उपजीवी द्योतित करता है।

दीक्षित जी की कृतियों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि दीक्षित जी ने अपनी प्रखर मेधा से न केवल संग्राहक वृत्ति का अपितु प्रवीण विवेचक का भी परिचय दिया है। अगर देखा जाय तो एक कुशल समीक्षक के रूप में दीक्षित जी ने ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की विचारणा, मम्मटाचार्य की स्पष्ट तर्क प्रधान शैली तथा विश्वनाथ आचार्य की अभिव्यक्ति का

सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करने की चित्र मीमांसा में भरसक कोशिश की है। दीक्षित जी ने मम्मट की चित्रसम्बन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ़ एवं प्राजल रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया है। पण्डित राज जगन्नाथ की सशक्त दार्शनिकता के समक्ष दीक्षित जी भले न ठहर सकें, किन्तु इनकी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने की शैली अति प्रशंसनीय है।

दीक्षित जी का खण्डनात्मक दृष्टिकोण भी अपने ढ़ंग का अद्वितीय है। लक्ष्य–लक्षण ग्रन्थ में इनका प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (matter) की ओर जितना अधिक है, अलङ्कार विवेचन की अभिव्कजना प्रणाली की ओर बल्कि उतना नहीं है।

कौन सा अलङ्कार किस प्रकार प्रयोज्य है, यह दीक्षित जी के लिये चिन्तनीय नहीं है, बल्कि उनका लक्ष्य लक्षण के खण्डन – मण्डन की ओर अधिक है। यदि इनकी कोई कमजोरी है तो वह यह है कि इनके ग्रन्थों में साहित्य और दार्शनिक वस्तु का ऐसा समन्वय है कि इनका विषय वस्तु और विषयव्कजना में विचित्र असमानता ध्वनित होती है और इसी कारण पण्डितराज को भी इन पर कुछ कहने या लिखने का अवसर मिला।

वरदराजस्तव में उनकी शैली स्वाभाविक और प्रभावकारी है। युक्तियों की अपूर्वता, भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति तथा भाषा का अद्वितीय माधुर्य एवं उदाहरणों की अनुकूलता के कारण यह स्तोत्र साहित्य अत्यधिक समाद्रित है।

संस्कृत साहित्य के उज्ज्वल नक्षत्रों में एक पण्डितराज जगन्नाथ का नाम भी आता है। ये दीक्षित के समकालीन और दक्षिण भारत के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों में से हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का प्रादुर्भाव १६२० ई० से १६६० ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी

था। ये तैलड्ंग ब्राहमण थे[1] तथा अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर शाहजहां के वैभवशाली मुगलदरबार में अपना यौवन व्यतीत किया।[2]

वैभवशाली मुगल सम्राट के दरबार में रहकर भी संस्कृत भाषा के माधुर्य और लालित्य की जो ध्वजा पण्डितराज ने फहरायी, वह आज भी अपने में अद्वितीय है। इन्होंने वहां दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाया और वहीं संस्कृत साहित्य के रस माधुरी का पौनः – पुन्येन सम्राट को रसास्वादन कराकर सम्राट के प्रिय पात्र बन गये। इन्होंने बार–बार सम्राट के संस्कृत और आध्यात्म विद्या के प्रति अनुपम अनुराग आदि गुणों को देखकर 'जगदाभरण' नामक काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया। इन्होंने जगह–जगह पर सम्राट की भूरि–भूरि प्रशंसा भी की हैं।[3]

पण्डितराज कवि होने के कारण बड़े ही रसिक थे। दिल्ली में लवड्गी नाम की यवन कन्या के प्रति इनका प्रेम यत्र–तत्र सर्वत्र अति चर्चित था। यद्यपि यह यवनी सामान्य परिवार की थी, किन्तु उसकी कमनीयता का गुणगान करते ये अघाते नहीं। सिर पर घट धारण किये हुये यवनी का मधुर चित्र दर्शनीय है।[4]

१– तैलड्ंगान्वयमड्ंमंलालयमहालक्ष्मीदलालालितः।
श्रीमत्पेमरभट्टसुनूरनिशं विद्ववल्ललातं तपः ।। – प्राणाभरणान्ते

२– दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

३– दिल्लीश्वरो वा, जगदीश्वरो वा।
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं।
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्।।

४– न याचे गजालिं नवा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्,
इयं सुस्तनीमस्तकन्यस्तकुम्भा लवड्.गी कुरड्.गी दृगंड्.गी करोतु ।।

लवङ्.गी के प्रति उनकी यह आशक्ति इतनी विकट है कि पण्डितराज को रात हो या दिन इनको आराम नहीं है। उसके बिना स्वर्ग के सुख को भी हेय समझने वाले पण्डितराज की रसिकता का आनन्द तो अनुभूति करने योग्य है।[1]

सौभाग्य से पण्डितराज ने वाराणसी में ज्ञानेन्द्र[2] भिक्षु से वेदान्त, शास्त्र, महेन्द्र पण्डित से न्याय वैशेषिक दर्शन तथा अपने पिता से निखिल शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया।[3]

यवन कन्या के साथ अपने दुर्दमनीय यौवन को बिताकर ये पुनः जब काशी आये तो वृद्धावस्था में दीक्षित जैसे गणमान्य पण्डितों ने इन्हें 'यवनसंसर्गाद्दूषितोऽयम्' कहकर जाति से बहिष्कृत कर दिया और तिरस्कृत किया। ये उसी पाप का प्रायश्चित करने के लिये 'मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते'

१— यवनीनवनीतकोमलाङ्.गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।'
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः।।
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीत समा।
उहि — उहि वचोऽमृतपूर्णमुखी ससुखी जगतीहयदङ्.कगता।।

२— श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतं सकलब्रहमविद्याप्रपंचः।
काणादीनक्षपादीनपि गहन गिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्.क प्राप्तशेषामलमणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः ।। रस०श्लो० —२

३— पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया,
तं वन्दे पेरूमट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरूम्। रस०श्लो०

मथुरा आकर कृष्ण की आराधना में लग गये और अन्त समय में काशी में पंचगंगा घाट पर बैठकर गंगा लहरी की रचना की। इन जनश्रुतियों में कितना सत्य है यह तो कह पाना बड़ा मुश्किल है किन्तु 'नहि निर्मूला जनश्रुतिः' इस उक्ति को नकारा नहीं जा सकता। भक्त वत्सला गंगा भी इनसे इतनी द्रवित हो गयी कि कहते हैं कि भक्तिभाव से गाये गये एक – एक श्लोक पर मां पतित पावनी गंगा इनके पास आती चली गयी। पांच – पांच श्लोक तक आते – आते इन्हें अपने उदरस्थ करके इन्हें और इनकी प्रेमिका (धर्म पत्नी) को मुक्ति प्रदान की। यह इनके यवनी प्रणय का अन्तिम प्रायश्चित था।[1]

इसके दूसरी तरफ एक दूसरा मत भी है कि दिल्लीश्वर के दरबार में रहते हुये इनका किसी यवन युवती से प्रेम हो गया और वही इन्होंने शादी कर ली। कालान्तर में उस यवन युवती की मृत्यु से विरहतुर यह वाराणसी में आये और विद्वज्जनों से तिरस्कार पाकर अपना गंगा लहरी का पाठ करते हुये गंगा प्रवाह में अपने को विलीन कर दिया।[2]

वस्तुतः यही मत समीचीन लगता है। क्योंकि भामिनी विलास के तृतीय स्तवक को प्रमाण न माना जाये तो रसगङ्गाधर में उद्घृत "अपहायसकलवान्धव–चिन्तामुद्वास्यगुरूकूलंप्रणयाम" का कोई औचित्य नहीं होगा।

१– सुरधुनिमुनि कन्ये तारये पुण्यवन्तम् स तरति निज पुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिर्नीं मां पुनीहि तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम्।।

रस० प्रस्तावना पृष्ठ ३ – ३६

२– भामिनी विलासस्य तृतीयः स्वतकः प्रमाणम्।

फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि वे अपनी कृति गंगा लहरी का पाठ करते हुये यवनी के साथ गंगा में विलीन हो गये वस्तुतः वे भ्रान्त ही हैं क्योंकि गंगा लहरी के अनन्तर ही रस गङ्गाधर की रचना हुयी इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन्होंने रस गङ्गाधर में बहुत से तत्तदलङ्कारों के प्रदर्शनार्थ गंङ्गा लहरी के बहुत से पद्य उदघृत किये हैं।[1]

दूसरी ओर घाट पर किसी यवन युवती के वाहुपाश में आबद्ध व्यक्ति को देखकर दीक्षित का पूर्वार्द्धश्लोक पाठ और उसको सुनकर पण्डितराजजगन्नाथ का उत्तरार्द्ध पाठ विषयक प्रमाण भी निर्मूल ही होगा। अतः गङ्गाप्रवाह में निमज्जन विषयक कथन निराधार ही प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि पण्डितप्रवर जगन्नाथ ने सब कुछ करने के बाद दीक्षित इत्यादि के मतो का खण्डन करके यवनी के संसर्ग दोष परिमार्जन हेतु काशी[2] या मथुरा[3] में भगवद् भजन करते हुये परमपद को प्राप्त हो गये।

१–क– वधानद्रागेव द्रढ्रिम रमीणीयं परिकरं। ध्वनिनिरूपणेऽर्थान्तरतिरस्कृतवाच्य स्योदाहरणम्। र०पृ० १४७

ख– कृतक्षुद्रा घोघानथ सपदि सन्तप्तमनसः – रस० अनन्वय, पृष्ट -- २०४

ग– नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कमतया – रस० पृष्ठ – २१०

घ– समृद्धं सौभाग्यं सकल वसुधायाः किमपि तत् रस० पृष्ठ – २५३

२– सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्वं परं चिन्त्यते।

३– सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते।

रस० प्रस्ता० पृष्ठ – ४१

पण्डितराज अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। जिनका संक्षिप्त रिचय अधोलिखित है।

१– करूणा लहरी – भगवान् विष्णु की स्तुति माधुर्य एवं ललित पद्यों के माध्यम से की गयी हैं।

२– पीयूष लहरी – इसे ही गंगा लहरी के नाम से प्रसिद्धि मिली है। **पण्डितराज की यह लोकोत्तर कृति आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाली है।** इसमें भगवती गड्.गा की स्तुति की गयी है।

३– अमृत लहरी – इसमें यमश्वसा मां यमुना की स्तुति की गयी है।

४– लक्ष्मी लहरी –

५– सुधा लहरी

चित्र मीमांसा खण्डनम् – इसमें अप्पय दीक्षित के इस ग्रन्थ के कुछ अंशों का पण्डितराज द्वारा प्रबल तर्कणा के माध्यम से खण्डन किया गया है।

जगदाभरण्म – **इसमें शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह की मनोरम ढंग से प्रशस्ति विद्वद्वर जगन्नाथ ने किया है।**

प्राणाभरणम् – इसमें कामरूप देश के राजा प्राणनारायण का मनोहारी वर्णन किया गया है। इसकी टिप्पणी भी कविराज जगन्नाथ ने ही की है।

आसफ विलास– इसमें नवाब आसफ खान के भोग विलास, वैभव, राजकीय किया–कलाप का चित्रण किया गया होगा। ऐसा नाम से अनुमान किया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु अपने रस गड्.गाधर में दो

पद्यों के माध्यम से कवि ने इसका उल्लेख किया है। अतः इस नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। ऐसा अनुमान किया जाता हैं।

भामिनी विलास – इसमें पण्डितराज के द्वारा रचित पद्यों का मनोहारी संग्रह है जो कि सर्व सुलभ है।

मनोरमा कुचमर्दनम् – व्याकरण के उद्भट विद्वान् भट्टोजी दीक्षित के द्वारा रचित 'मनोरमा' नामक व्याकरण ग्रन्थ का खण्डन लेखक के प्रौढ़ वैदुष्य का परिचायक है।

यमुना वर्णनम् – यह भी यमुना स्तुति का गद्य परक ग्रन्थ है जो कि अनुपलब्ध हैं। इसके विषय में रस गङ्गाधर में कुछ पद्य उदघृत किये गये हैं।

रसगङ्गाधर – पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य तत्व विषयक नैयायिक भाषा शैली में गद्य रूप में लिखा हुआ यह एक विशाल एवं अप्रतिम ग्रन्थ है।

इसमें आनन नामक दो अध्याय हैं। ग्रन्थ के नाम से तथा उसके अध्यायों को दी गयी संज्ञा आनन से यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि पण्डितराज के मनोमस्तिष्क में इसे पंचाननात्मक रूप देना रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से यह पूर्ण न हो सका।

प्रथम आनन में कमशः 'काव्य लक्षण', काव्य विधा, रस, गुण और भाव, ध्वनि आदि का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय आनन में इस मनीषा ने रस, ध्वनि और अलंकारों पर विचार किया है। अलङ्कारों के अन्तर्गत ७१ अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम अलङ्कार उत्तर अलङ्कार है। जो कि रस गंगाधर के किसी भी संस्करण में पूर्ण नहीं मिलता है। इस कारण इसकी अपूर्णता सिद्ध होती है। इस

अपूर्णता के पीछे कारण जो भी हो किन्तु उनका देह त्याग इसमें कारण नहीं था, इतना स्पष्ट है। इन्होंने चित्र मीमांसा खण्डनम् में स्वयं कहा है कि रसगड्.गाधर के अनन्तर इसकी रचना की जा रही है।

पण्डितराज के परवर्ती नागेश भट्ट द्वारा भी लिखित रस गड्.गाधर की टीका अपूर्ण ही मिलती है। आज तक संस्कृत जगत् को उनके बाद कोई भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिससे इसे पूर्णत्व प्राप्त होता।

पण्डितराज के समय तक प्रायः काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों के प्रस्थान हो चुकने के बाद भी इस ग्रन्थ को अतिशय सम्मान प्राप्त हुआ जो कि इस बात का द्योतक है कि काव्यशास्त्र को उससे कुछ ऐसी समृद्धि प्राप्त हुयी जिससे सुधी मानस सहजभाव से उनके ग्रन्थानुशीलन में प्रवृत्त होता है और स्वभावतः साहित्यिक प्रेरणा का अनुभव करता है।

रसगड्.गाधर अपनी गम्भीरता एवं क्लिष्टता के कारण भी व्याख्याताओं, टीकाकारों और अध्येताओं के विशेष आकर्षण का विषय नहीं बन सका। प्राचीन टीकाकारों में नागेश की टीका अति संक्षिप्त होने के कारण मात्र टिप्पणीवत् ही सहायिका का कार्य कर पाने में सक्षम है।

अर्वाचीन विद्वानों द्वारा किये गये तत्सम्बन्धी कार्य अभी तक अनुवादों और सैद्धान्तिक लेखों के रूप में पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। इनमें श्री बी०ए० रामास्वामी शास्त्री के लेख अन्नामलाई विश्व विद्यालय के जनरल में प्रकाशित हुये हैं। उन सभी का संकलन Pandit Raj - A study नामक पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त डा० प्रेमस्वरूप गुप्त की 'रसगड्.गाधर का

शास्त्रीय अध्ययन जो कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय एवं श्री कमलदेव त्रिपाठी का 'संस्कृत काव्य शास्त्र में पण्डितराज की देन' नामक शोध प्रबन्ध जो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है एक स्तुत्य एवं महत्वपूर्ण कार्य हैं। आगरा विश्वविद्यालय एवं विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन) में इस पर कुछ कार्य हुआ है।

उपर्युक्त सभी शोध प्रबन्धों में रसगड्.गाधर के किसी एक अड्.ग का ही परिचय मिलता है चाहे वह रसगड्.गाधर की एक लक्षण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा हो अथवा पण्डितराज के उत्कृष्ट पण्डित्य को मुखर करने वाले ग्रन्थ के रूप में उसकी उपादेयता अथवा किसी परिमार्जित सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाले रचना के रूप में उसकी प्रामाणिकता के रूप में हो। इस प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में पण्डितराज ने प्रायः सभी उदाहरण स्वरचित ही दिये हैं।[1]

पण्डितराज के समय में सुरभारती के विकास की जो धारा बही वह अपने में अद्वितीय है। इस समय के पण्डितों में नव्यन्याय और व्याकरण के प्रति प्रदर्शित प्रेम उसकी प्रतिभा और गम्भीरता के ही प्रमाण हैं। इस समय अनेक वाक्यों की बात छोड़िये, एक – एक शब्द और एक – एक वर्ण तथा मात्रा को लेकर भी गम्भीर मन्थन चलता था। परिणाम स्वरूप अर्द्ध मात्रा लाभ ही उनके

१– निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं।

काव्यं मयान् निहितं न परस्य किंचित्।।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः।

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।

लिये इस लोक में सबसे बड़ा लाभ था।[1] जो शैली श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा अलङ्कार शास्त्र में अङ्कुरित हुयी, वाग्देवता परावतार श्री मम्मट भट्ट द्वारा कन्दलित हुयी, श्रीमद् अप्पय दीक्षित इत्यादि मनीषियों द्वारा जो पुष्पित हुयी, वही पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा फलवती हुयी, ऐसा कहने में कोई सन्देह नहीं है। न्याय, मीमांसा इत्यादि मार्गों का अनुसरण करने वाली इनकी यह शैली स्तुत्य है। महामहिम कवितार्किक शिरोमणि श्री हर्ष की गर्वोक्ति को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सार्थकता प्रदान की है।[2]

अपनी इस अद्वितीय कृति में पण्डितराज ने 'चित्र मीमांसा' जो कि श्रीमदप्पय दीक्षित की रचना है कि जबर्दस्त आलोचना की। इतना ही नहीं जब आलोचना करते–करते उनका मन नहीं भरा तो उन्होंने दीक्षित जी की इस प्रौढ़ कृति के खण्डनार्थ 'चित्र मीमांसा खण्डन' नामक ग्रन्थ लिख डाला। इसमें इन्होंने यत्र – तत्र खण्डन के साथ – साथ विवेक छोड़कर अनावश्यक रूप से दीक्षित जी का उपहास भी किया है।

१– अर्द्धमात्रालाघवेनपुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ।

परिभा० पृष्ठ – १३३

२– साहित्ये सुकुमारवस्तुनिदृढन्यायग्रहग्रन्थिले।

तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।।

शय्यावाऽस्तु मृदूतरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता।

भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्यारतिर्योषिताम्।।

नैषध महाकाव्य पृष्ठ –८

न तो ये वाग्देवता परावतार मम्मट की तरह अल्पभाषी हैं और न विश्वनाथ की तरह विवेचन में कंजूस और न ही दीक्षित की तरह वाणी में एक देशीय। पण्डितराज का तो जैसे विवेचन सर्वोत्कृष्ट है उसी तरह काव्य के क्षेत्र में भी इनकी ऐसी देन है जिसका कवि हृदय पाठक मुहुर्मुहुः रसास्वादन करता है।

'रस गड्.गाधर' की शैली अतीव स्फीत एवं सहृदहारिणी है। वक्तव्य विषय का प्रतिपादन इन्होंने स्पष्ट, सारगर्भित, प्रौढ़ और मधुर ढंग से प्रतिपादित किया है। पण्डितराज ने प्राचीनों की तरह व्याख्या को अस्पष्ट नहीं, अपितु कारिका इत्यादि में भी कथनीय विषय का सफल स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

मां सरस्वती के दो स्तन के रूप में सड्.गीत और साहित्य की कल्पना मनीषियों ने की है।[1] जिसमें साहित्य शास्त्र की आलोचना को प्राण कहा गया है। इसकी जितनी ही आलोचना होती है वह उत्तरोत्तर मर्मस्पर्शी और फलीभूत होती चली जाती है। 'रसगड्.गाधर' नामक ग्रन्थ में जो – जो साहित्य शास्त्र के विषय प्रतिपादित है वे पूर्व की अपेक्षा अतीव विशद, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित है। इस ग्रन्थ का निर्माण इस मनीषी ने चूंकि पूर्व की उठायी गयी आपत्तियों और कमियों को लेकर किया है। अतः एक भी पद संदिग्ध, न्यून, वा अधिक नहीं है। कवि ने रसगड्ंगाधर के मड्.गलाचरण, के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा की है कि पूर्व ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त ही हमनें

१– साहित्यमथसड्.गीतं सरस्वत्यास्तनद्वयम्।

एकंमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम। सुरभारती पत्रिका पु० ६५ १९७२

यह ग्रन्थ लिखा है जिसे कोई भी दोष खोजने पर भी न मिले।[1] बल्कि पुराने अन्य ग्रन्थ निष्प्रभ हो जावेंगे। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ द्वारा अभिमत सर्वथा निर्दुष्ट काव्य लक्षण भी पण्डित राज के द्वारा दोष युक्त कर दिया गया। रस निरूपण के समय इन्होंने 'समस्त शास्त्रों का सार साहित्य है' यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हुये अभिनव नाट्य शास्त्र के उपस्थापित मत और दार्शनिक सिद्धान्तों का जैसा प्रौढ़ और परिष्कृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जिससे समस्त विवेचक, शास्त्र, मर्मज्ञ और गुणमात्र का पक्ष लेने वाले विद्वज्जन आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

इन्होंने उपमालड्.कार के प्रसड्.ग में स्वयं पूर्व सभी लक्षणों को आलोचना की कसौटी पर कसा है। इन्होंने अप्पय दीक्षित के उपलमालक्षण को प्रबलतम शास्त्र प्रमाणों से निरस्त कर दिया।[2] उपमालड्.कार जब अर्थालड्.कार है तब शब्द वाचकता आपेक्षित है। वर्णन जब अलड्.काररूप है तब स्वयं शब्द रूप वर्णन शब्द वाच्य कैसे हो सकता है? इसी तरह विद्यानाथ के द्वारा कथित उपमालक्षण भी पण्डित राज के द्वारा निरस्त कर

१— निग्ननेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरूदरं ।
मयोन्नीतो लोके ललितरसगड्.गांधरमणिः।।
हरन्नन्तर्ध्वान्तंहृदयमधिरूढो गुणवता।
मलड्.कारन्सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु।

रस० १/४

२— उपमितक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमदुष्टमव्ड.ग्यमुपमालड्.कारः —

चित्र पृ० — ७८

दिया गया।[1] इसी तरह वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का भी उपमालङ्कार लक्षण रमणीय नहीं है 'साधर्म्यमुपमाभेदे' काव्य प्रकाश कार के इस लक्षण का भी उन्होंने प्रबल तर्कणा से खण्डन किया है। जिसे प्रसङ्गानुसार आगे के अध्यायों में व्याख्यायित किया जायेगा। अलङ्कार सर्वस्वकार के उपमा लक्षण को निरस्त कर दिया।[2] रत्नाकरोक्त उपमा लक्षण असमीचीन है। श्लेष मूलक उपमा में श्लिष्ट शब्द रूप धर्म कवि की ही कल्पना है।[3] इस प्रकार सभी लक्षणों का निरसन करके 'सादृश्यंसुन्दरंवाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः' रसगङ्गाधर में यह उपमा लक्षण उन्होंन सहृदय जनों के सम्मुख स्थापित किया।

संस्कृत साहित्यकाश मे परिण्डतराज का यह महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है कि उन्होनें अपने द्वारा निर्मित लक्षणों का उदाहरण भी स्वयं का ही दिया है। संस्कृत साहित्य में ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलता, यहाँ तक कि वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट् आचार्य कुन्तक, दीक्षित या अन्य जो भी विद्वान साहित्य में काव्य शास्त्री हुए वे सभी उदाहरण के लिए परमुखापेक्षी हुए।

१– स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्णस्य वाच्यं चेदेकदोपमा।।

रसङ्गाधर पृ० १६२

२– उपमानापमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमाअलंङ्कारः।

स०सू० ११ पृष्ठ ३६

३– उपमानोपमेयस्य सादृश्यमुपमा – अलं० रत्ना० सू० ७ प्रसिद्धगुणेनोपमानेन अप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यहेतुनागुणादिना धर्मेण साधर्म्यप्रतिपादनमुपमा तत्रैव वृत्तिः।

हुये।

वाग्देवतावतार काव्य प्रकाश कार आचार्य मम्मट ने अपना सर्वमनोहारी लक्षण तो प्रस्तुत किया है किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हें दूसरों द्वारा अनुचित अप्रासङि्.क उदाहरण को भी न चाहते हुये भी विवशतावश स्वीकार करना पड़ा। पण्डितराज के समक्ष वाग्श्री मानो नत मस्तक होकर दौड़ती हुयी इस तरह आती है कि कवि ने उपस्थित विषय चाहे वह कितना भी दुरूह क्यों न हो उसे सरल एवं मनमुग्धकारी बना ही दिया।[1] किन्तु काव्यप्रकाश कार ने रति, सम्भोग श्रङ्.गार और उन्मत्त देवता विषयक वर्णन समीचीन नहीं है उनका वर्णन पिता –माता के सम्भोग के वर्णन की तरह अनुचित है। इस अनुशासन से बंधे होने पर भी प्रतीयमान व्यंग के सम्बन्धासम्बन्ध रूप उदाहरण काव्य प्रकाश में पंचम उल्लास में श्लोक संख्या १३७ पृ० २५२ पर इस प्रकार दिया है –

विपरीततरेलक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्टवा नाभिकमलस्थम्

हरेर्दक्षिणनयनंरसाकुला झटिति स्थगयति।

काव्य प्रकाश – ५/१३७

उपर्युक्त पद्य में कवि ने कवित्वं शक्ति के अभाव में तथा दूसरा समीचीन उदाहरण न मिल पाने के कारण विवश होकर अपने अनुशासन को तोड़ दिया।

१– निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपंकाव्यंमयात्र निहितं न परस्य किंचित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिका जननृशक्तिभृता मृगेण।।

रस० – १/५

पण्डितराज का पाण्डित्य अतीव गम्भीर, प्रौढ़ और समस्त शास्त्रों के अध्ययन स्वरूप परिपक्व हो चुका था। नव्य न्याय शैली का अनुसरण करने से 'रसगङ्.गाधर' नामक ग्रन्थ साहित्यिकों के लिये दुष्कर गले हो गया हो किन्तु तत्कालीन वाद–विवाद के युग में संस्कृत वांगमय की वह शैली पाण्डित्य की प्रतिष्ठानुकूल ही सिद्ध हुयी। आज भी वाद – विवाद की स्थिति में इस शैली को प्रौढ़ पाण्डित्यानुकूल माना जाता है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की अग्नि से जलते हुये पण्डितराज को वह शैली अपनानी ही पड़ी। ऐसा मेरा मानना है।

सरस, ललित, कलित, कोमल कान्त पदावली रूप साहित्य शास्त्र में पण्डित लोग सरलतया प्रवेश कर लेते हैं। किन्तु पण्डितराज ने जिस प्रौढ़, परिष्कृत शैली का अनुगमन किया, वह सबके वश की बात नहीं। व्याकरण शास्त्र में प्रौढ़ व्यक्ति तथा उपनिषदों में पारङ्.गत व्यक्ति ही उनके ग्रन्थ का वास्तविक अधिकारी है ऐसा अभिमत प्रकट करते हुये उन–उन शास्त्रों के उदाहरण दिये हैं।[2] अलङ्.कारों में मार्मिक शाब्द बोध के प्रसङ्.ग

१– क–सादृश्य मात्रयद्युपमातर्हि 'कालोपर्सजने चतुल्यम्' इत्यादावप्युपमा

स्यात्। रस०उपमा वृ० पृ० ०६, पाणिनि सूत्र – १/२/४६

ख– 'भावप्रधानमाख्यातम्'

रस० उत्प्रेक्षा – पृ० ३६३

२– नानार्थनिरूपण प्रसङ्.गे योगशक्त्या न सर्वत्राऽथरित्यस्मिनप्रसङ्.गे ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उश्वः इति वेदानां वाक्ये किमैश्वर्य विशिष्टः कश्चिंजीवोऽत्र प्रतिपाद्यते उतेश्वर इति संशये जीव एवेति पूर्व पक्षे च शब्दादेव प्रमितः। रस गङ्.गाधर पृष्ठ – १४५

में दर्शन की जो सरस धारा इस कवि ने प्रवाहित की है वह इ... दर्शन के पाण्डित्य का सूचक है। जहां तक इनके दार्शनिकता की बात है वह इन्होंने नव्य न्याय पक्ष का अनुगमन किया है, यद्यपि मीमांसा दर्शन का भी यत्किंचित पुट यत्र--तत्र उदाहरणों के माध्यम से कवि ने प्रदर्शित किया है। प्राचीन लक्षणकारों ने जहां व्याकरण के अड्.गभूत रूप से साहित्य शास्त्र को[1] स्वीकार किया है और उसका प्राधान्य[2] भी अपने–अपने ग्रन्थों में मुक्त कण्ठों से स्वीकृत किया है किन्तु रसगड्.गाधर के प्रणेता ने व्याकरण शास्त्र के महत्व को स्वीकार तो किया किन्तु साहित्य शास्त्र को स्वतन्त्र दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय इन्हीं को जाता है। 'न च वैयाकरण मत विरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रत्वेनालड्.कारिक तन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् रस० उत्प्रे० पृ० ३०० द्रष्टव्य है।

पण्डितराज की आलेचना रूप जो पद्धति है वह यथार्थ वाद पर आधारित है जबकि दीक्षित की आलोचना जातीय वैमनष्य को लेकर होने के कारण दोष जन्य और न्यायोचित नहीं है। यही कारण है कि इनके विषय में खण्डन – मण्डन की आवश्यकता बलवती है। जहां तक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यो यथा वाग्देवतावतार मम्मट और ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का प्रश्न है उनके विषय में पण्डितराज द्वारा समुचित सम्मान प्रदर्शित किया गया है। मम्मटाचार्य के मत की यत्र – तत्र समालोचना तो दिखायी पड़ती है किन्तु आनन्द वर्धन के विषय में यथार्थवाद्र की परम्परा

---

१. इदमुत्तमतिशयिनी व्यङ्ग्ये वाच्यात् ध्वनिबुधैः कथितः – का पृ० ४

२. प्रथमो कि० विद्वांस वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।

ध्वन्या० – १/१६ का०वृ०

का ही इन्होंने अनुसरण किया है। अमरूक कवि के विषय मे प्रशस्ति गान किया है।[1] किन्तु पण्डितराज ने इसमे भी निर्माण सामग्री का दारिद्रय है ऐसा कहकर अपना वैमत्य प्रदर्शित किया है।[2] पण्डितराज ने यत्र – तत्र कविकुल गुरू कालिदास के पुराणमित्येव[3] श्लोक को प्रतिनिधि बनाकर अपने अनुरूप आलोचना पथ का निर्माण किया आज भी सुधीजन वाद – जल्प, वितण्डादि का अनुगमन करके जिस तरह अपने पक्ष को रखते है और परपक्ष का खण्डन किया करते है उसी तरह पण्डितराज ने भी दीक्षित के मत की आलोचना की है। किन्तु पण्डितराज का वैशिष्ट्य इस बात को लेकर है कि उन्होने प्रत्यक्ष खण्डनार्थ जिस आलोचना पद्धति का अनुगमन किया वह पद्धति अतीव मनोहर, सर्वशास्त्रज्ञानजनिका और सहृदय हृदयहारिणी है। इसी कारण से विद्वज्जन तन्मय होकर उनकी रसमाधुरी का आनन्द लेते हुए देखे जाते है। बात चाहे जो भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि पण्डितराज जगन्नाथ जैसे अप्रतिम कवि एवं दार्शनिक की ही यह कुशलता का नमूना है कि पाश्चात्य विद्वानों ने इनकी भूरि – भूरि प्रशंसा की है। ए०बी० कीथ और काणें जैसे पाश्चात्य

---

१. यथा ह्यमरूकस्य कवेर्मुक्तकाःश्रृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव – ध्वन्या ०३/६३ का०वृ०

२. कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्रयंप्रकाशयति।
शून्यंवासगृहमित्यादिश्लोके रस० १/७४

३. पुराणमित्येव न साधु सर्वम न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयवुद्धिः।।

माल०वि० – १/२

मनीषियों ने इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए इनको संस्कृत साहित्य के अन्तिम कवि के रूप मे प्रस्तुत किया है।[१] यही बात ए०बी० कीथ ने भी कही कि "पण्डितराजः संस्कृत साहित्यस्य अन्तिम कविरासीदिति।"

संस्कृत साहित्याकाश मे विशेषकर अलंकार शास्त्र मे आलंकारिको की बात चलने पर भरत, वर्धनाचार्य, अभिनव गुप्त एवं वाग्देवतावतार मम्मटादि को प्रथम श्रेणी मे रखा जाता है और वस्तुतः इन सभी का कार्य ऐसा है भी कि इन्हे इस कोटि मे रखना समीचीन ही है ऐसा कार्य पण्डितराज इत्यादि का तो नहीं ही है, किन्तु पण्डितराज की समीक्षा पद्धति को यदि सामने रखा जाय तो इनका कार्य किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं कहा जा सकता है।

जहां भरत जैसे आचार्य ने रस सिद्वान्त की स्थापना किया, वर्धनाचार्य ने ध्वनिवाद के वृक्ष का आरोपण किया, अभिनव गुप्त ने रस सिद्वान्त मे दार्शनिकता का पुट देकर उसे पुष्पित – पल्लवित किय और मम्मटादि ने उसे व्यवस्थित रूप देकर एक सुव्यवस्थित रूप दिया, वैसा पण्डितराज ने भले ना किया हो यह बात जितनी सत्य है यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उनके बिना संस्कृत साहित्य अधूरा ही रहेगा। यदि यह कहा जाय कि जैसे अभिनव गुप्त के बिना भरत का कार्य साहित्य के क्षेत्र में इतिहास बनकर रह जाता, उसी तरह यह भी कहना समीचीन

---

१. History of Sanskrit poetics - Rasgangadhar - This is a standard work poetics particularly on a alnkaras Jagnnath is the last great write on Sanskrit Poet (P.V. Kane M.A.D. Litt.,) रस भूमिका पुरूषोत्तम शर्मा संस्करण।

ही होगा कि भरत के आदर्श सिद्धान्त की पूर्ण रूपेण यदि कोई रक्षा कर सका है तो वह अभिनव गुप्त ही हैं। दर्शन को साहित्य के क्षेत्र में विधिवत स्थापित करने का श्रेय अभिनव गुप्त जैसे आचार्य को है जिन्होंने रस सिद्धान्त की शैवदर्शनानुसारिणी व्याख्या किया। इन्हीं के मार्ग का अवलम्बन करते हुये पण्डितराज ने वेदान्त दर्शन के पथ का अनुगमन करके रस सिद्धान्त की अद्वैत वेदान्तानुसारिणी व्याख्या विधिवत प्रस्तुत किया। इस तरह साहित्य के क्षेत्र मे दर्शन के आ जाने से नवीनता सी आ गयी। एक बात जो इनके विषय में कहना अतिशयोक्तिपरक नहीं होगी वह यह है कि सब जगह काव्य में दर्शन की व्यवस्थानुसार व्याख्या करने के बावजूद भी कहीं पूर्ववर्ती विद्वज्जनों जैसा अतिकष्टप्रद और दुष्करता नहीं है। इन्होंने स्पष्ट पद विन्यासों से युक्त मनोहारिणी व्याख्या और स्वनिर्मित उदाहरणों से अपने मत का प्रतिपादन किया है।

वाग्देवतावतार मम्मट का मत भी जहां – तहां संदिग्ध है, टीकाकार भी उसका (संदिग्ध) आश्रय नहीं ग्रहण करते है किन्तु यदि कहा जाय कि पण्डितराज की व्याख्या से मम्मट का महत्व और अधिक बढ़ गया क्योकि इनकी स्पष्ट प्रतिपादन शैली से हस्स्तामलकवत् व्याख्या स्पष्ट होती चली गयी जिससे रंच मात्र भी संदेश का अवकाश नही है। अतः इन सभी दृष्टियों से पण्डितराज को साहित्य के क्षेत्र में आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी।

इन सभी गहन पर्यालोचनों से यह तथा उभरकर निकर्ष के रूप में आता है कि पण्डितराज गम्भीरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति, साहित्य के क्षेत्र में दर्शन के व्यवस्थापक और भावुकता के अनन्य उपासक, सर्वविधकाव्य निर्माण शक्ति सम्पन्न और विषय प्रतिपादन के अवगाहन में कुशल थे।

पण्डित राज ने रसगङ्‌गाधर ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना अभिप्राय प्रकट किया है।[1] पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में बहुत से नियम प्रतिपादित और स्थापित किये गये, जो कि आने वाली पीढ़ियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे। श्रृंगारादियों में नवीन सरस रचनायें भी प्रस्तुत की गयी। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पण्डितराजजगन्नाथ प्रतिमाशालियों में चूणामणि थे।
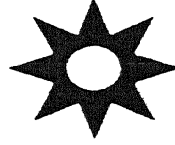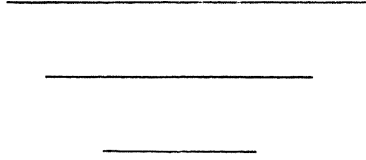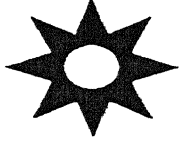
१– रसगङ्‌गाधर नामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।

किन्च कुलानि कवीनां निसर्ग सम्यंचिरन्जयतु।।

रस० – १/८२ श्लोक

द्वितीय अध्याय

प्राचीनकाल में काव्य शास्त्र को मुख्य रूप से काव्यालङ्.कार ही कहा जाता था। काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ काव्यालङ्.कार भामहकृत, उद्भट्टकृत काव्यालंकार सार संग्रह एवं रूद्रट का ग्रंथ काव्यालङ्.कार, वामनकृत काव्यालङ्.कार सूत्र इत्यादि ग्रन्थ काव्य शास्त्र के ही उदाहरण हैं।

वामन ने 'सौन्दर्यमलङ्.कारः'[1] तथा अन्यों ने भी "काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलङ्.कारान प्रचक्षते[2]" कहकर लक्षणा से काव्यालङ्.कार का अर्थ काव्य सौन्दर्य परक शास्त्र है इस अभिमत की पुष्टि की है। इन उपर्युक्त ग्रन्थों में न केवल अलङ्.कारों का चित्रण है, अपितु सौन्दर्य बोधक गुण, दोष, रीति इत्यादि जिन भी तत्वों की आवश्यकता होती है उन सभी का प्रतिपादन इसमें निहित है। कालान्तर में छत्रिन्याय से काव्यालङ्.कार शब्द के स्थान पर अलङ्.कार शास्त्र का प्रयोग होने लगा। प्रतापरूद्रीय टीकाकार ने पृष्ठ – ३ पर छत्रिन्याय से काव्यालङ्.कार के स्थान पर काव्य शास्त्र को अलङ्.कार शास्त्र यह नाम दिया है।[3] किन्तु काव्यालङ्.कार शास्त्र नाम देना इसलिये उचित नहीं लगता क्योंकि काव्य का आत्मा अलङ्.कार नहीं है वह तो रस हैं। कटक कुण्डलवत् अलङ्.कार उत्कर्षाधायक तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं। जिस प्रकार

१– काव्यालङ्.कार सूत्र १ – २

२– काव्यादर्श २ – १

३– यद्यपि रसालङ्.काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्.कारशास्त्रमुच्यते।

प्रताप रूद्रीय टीका पृष्ठ – ३

शरीर का जीवनाधायक तत्व आत्मा है उसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्व रस है। अतः अलड्.कार शास्त्र को सौन्दर्य शास्त्र या काव्य सौन्दर्य शास्त्र मानना ही अधिक युक्ति सड्.गत लगता हैं। विधि–प्रतिषेध रहित होने पर भी किसी गूढ़ तत्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं। अतः इसी अर्थ में काव्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग युक्ति जान पड़ता है।

मुख्य रूप से ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वती – कण्ठाभरण के रचियता भोज देव ने इस शास्त्र के लिये काव्य शास्त्र पद का प्रयोग किया है।[1] भोजदेव के मत में विधि और निषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छः हो जाते हैं।

१–	काव्य	२–	शास्त्र
३–	इतिहास	४–	काव्य शास्त्र
५–	काव्येतिहास	६–	शास्त्रेतिहास।[2]

काव्य के साथ शास्त्र जोड़कर उन्होंने उसकी गौरव वृद्धि तो की हैं। किन्तु, काव्य के आत्मा को वे विस्मृत कर गये। "अतः शंसनात् शास्त्रं" से ही गौरव वृद्धि तथा आत्मा को बचाया जा सकता है।

काव्य शास्त्र के लिये एक अन्य शब्द साहित्य का प्रयोग भी किया जाता है, जो कि आचार्य विश्वनाथ की देन मानी जा सकती हैं। आचार्य

१– यद्‌विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।

सरस्वती कण्ठाभरण पृ० २/१३८

२– काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।

सरस्वती कण्ठाभरणम् २/१३६

विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के साहित्य मीमांसाकार रूय्यक ने भी साहित्य का प्रयोग किया हैं। किन्तु इस ग्रन्थ को अप्रतिम प्रसिद्धि न मिलने के कारण साहित्यदर्पणकार को ही इसका श्रेय जाता हैं।

भामह को ही साहित्य शब्द के प्रयोग का आदि प्रवर्तक माना जा सकता हैं, इनको 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' यह काव्य लक्षण दिया। वक्रोक्ति जीवितकार ने 'साहित्य' शब्द के अभिप्राय को और भी स्पष्ट किया। इनके अनुसार शब्द और अर्थ दोनों के मंजुल सन्निवेश का ही नाम साहित्य है।[1] कालान्तर में नवम् शताब्दी में काव्य मीमांसाकार राज शेखर ने ही पंचमी 'साहित्यविद्या इति यायावर्यः" लिखकर इसे साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र का नाम दिया।[2] इसके अतिरिक्त इस शास्त्र के लिये कियाकल्प का प्रयोग भी मिलता है।[3] साहित्य शास्त्र के उद्गम के विषय में राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में एक पौराणिक आख्या प्रस्तुत की है, वह भले ही प्रामाणिक तत्वों से रहित हो, किन्तु उसके महत्व को स्वीकार तो करना ही पड़ता है।[4]

१– साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।

वक्रो० १/१७

२– काव्य मीमांसा, पृष्ठ – ४

३– कियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्"

४– अथातः काव्यं मीमासिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकृष्णः ——————

अष्टादशाधिकरणी प्रणीता। काव्य मीमांसा – पृष्ठ – ३–४

साहित्य शास्त्र का वेदो से भले ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, किन्तु सर्व विद्याओं के मूल होने से वेदों के अध्ययन से यह तथ्य भली भांति उभरकर सामने आता है कि वेद देवों के अमर काव्य कहे गये हैं और इसमें सत्यता भी हैं।[1] वेद के निर्माता के रूप में परमपिता परमात्मा को 'कवि' इस रूप में कई बार अभिव्यक्त किया गया हैं। वेद स्वयं काव्य रूप है और उनमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता हैं। काव्य सौन्दर्याधायक जिन गुण, रीति, अलङ्.कार, ध्वनि आदि तत्वों का विवेचन लक्षणकारों ने किया है सब मूल रूप में वेदों में उपलब्ध हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुण यहां पाये जाते हैं और इनके आधार पर ही रीतियों का निर्धारण होता है, अतः रीतियों के उदाहरण भी वेदों में विद्यमान हैं। उपमा और रूपक का नया जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया गया है की झांकी तो देखिये –

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उतत्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासाः।।[2]

अर्थात् कुछ लोग ऐसे है जो देखते हुये भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं और सुनकर भी उनको सुन नहीं पाते हैं। सुन्दर और प्रसाद गुण युक्त इस मनोहारी उदाहरण के माध्यम से क्या विरोधाभास दिखाया गया है। आगे कहा कि तीसरे वे लोग है जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे नूतन सुन्दर परिधानों में अलङ.कृत प्रेयसी अपने प्रेमी (पति) के सामने अपने

१– देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

२– ऋग्वेद – १० – ७१ – ४

सौन्दर्य को प्रस्तुत कर देती है। यह उपमा साहित्यशास्त्र में अन्यत्र ढूंढे नहीं मिलेगी। क्या अनूठी कल्पना हैं? इसी तरह दर्शन शास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन भी जगह–जगह पर मिलता है।[1]

रूपक अलंकार के माध्यम से ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों को दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित करते हुये व्यक्त किया गया है। दो सुन्दर पंखों वाले, साथ रहने वाले और मित्र रूप पक्षी हैं, वे दोनों पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर अवलम्बित हैं। उन दोनों में से एक जीव उस वृक्ष के फलों को खाता है। (अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मानुसार फलों का भोग करती है) दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुए संसार में चारों ओर अपने प्रकाश को (सौन्दर्य को) फैला रहा हैं। इसमें अनुप्रास, विभावना दोनों ही अलंकार हैं। इस तरह सैकड़ों ऐसे मन्त्र हैं जिनमें साहित्य शास्त्र के मौलिक तत्वों का सुन्दर समावेश हैं। अलंकार शास्त्र की प्राचीनता तो वेदों, ब्राहमण और आरण्यक ग्रन्थों तक में मिलती हैं। अतः राज शेखर ने अलंकार शास्त्र की श्रेष्ठता को स्वीकार किया हैं।[2] अग्नि पुराण में दृश्य काव्य एवं श्रव्य

१– द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

२– उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमङ्गमिति यायावरीयः ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानादेवार्थानवगतिः।

काव्य मीमांसा पृ० – १२ / ३ख – पंचमी

साहित्य विद्येति यायावरीयः। सा च चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दरूपा। तत्रैव पृ० – १८

काव्य की चर्चा की गयी है, किन्तु आधुनिक विद्वान इस विषय में एकमत नहीं है।[1] इसलिये साहित्यशास्त्र में 'नाट्यशास्त्र' को जो कि आचार्य भरत प्रणीत है को सभी ग्रन्थों में प्राचीन माना गया हैं। इसके अनुसार आचार्य भरत द्वारा चारों वेदों से सार भाग लेकर पंचम वेद, नाट्य वेद की रचना शूद्रों तक को भी निःश्रेयस का पात्र बनाने हेतु की गयी।[2] इसके बाद कश्यप, वररूचि आदि ने भी आलङ्.कारिक ग्रन्थ बनाये। काव्यादर्श के श्रुतानुपालिनी टीका में भी दण्डी के पूर्व आलङ्.कारिकों में कश्यप, ब्रहमदत्त, नन्द स्वामी इत्यादि के नामों का उल्लेख तो है, किन्तु इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। रूद्रदामन के शिलालेख की भाषा अलङ्.कारपूर्ण नहीं हैं, किन्तु अलङ्.कार शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है। व्याकरण शास्त्र के प्रणेता पाणिनि[3] पूर्ववर्ती यास्क के निरूक्त[4] तथा गार्ग्य के गर्ग संहिता में[5] तथा यही नहीं उपनिषदों में भी अलङ्कार का उदाहरण प्राप्त होता है।[6] जोकि अलङ्कार

१– पुराण विमर्शः पृ० ५५२ (आचार्य बलदेव उपाध्यायः)

२– जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतिमेव च

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। नाट्यशास्त्र १/७७

३– पाराशर्य शिलालिम्यां भिक्षुनटसूत्रयोः अष्टा ४/३/११०

कर्मन्दकृशाश्वादीनि – तत्रैव ४/३/१११

४– यथावासो यथावनं यथा समुद्रं सृजति नि० ५/७८/८

५– उपमा यत् अतत तत्सादृश्यम् गर्ग संहिता

६– आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। कठोपनि०–

शास्त्र की प्राचीनता को ही सिद्ध करता है।

वैदिक साहित्य से लेकर विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्.कार शास्त्र पर भले ही अलङ्.कार शास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया हो किन्तु, उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा साहित्यशात्र क्षेत्र के समस्त विषयों का सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है। इस समय को हम प्रारम्भिक काल के नाम से जान सकते हैं।

द्वितीय काल अलङ्.कार सम्प्रदाय के उद्भावक एवं पृष्टपोषक के रूप में भामह, दण्डी, रूद्रट इत्यादि आचार्यों का नाम लिया जा सकता है। इसी बीच रीति सम्प्रदाय की भी स्थापना हुयी। यह काल मुनि भरत से लेकर आनन्द वर्धन पर्यन्त जाता है।

तृतीय काल आनन्द वर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक का है।

चतुर्थकाल को पण्डितराज से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक माना जा सकता हैं। इस काल विभाग को हम इस तरह रेखांकित कर सकते हैं–

१– प्रारम्भिक काल – ई०पू० से मुनि भरत पर्यन्त

२– द्वितीय काल – मुनि भरत से लेकर आनन्दवर्धन तक

३– आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज पर्यन्त

४– पण्डितराज से विश्वेश्वर तक

आचार्य विश्वेश्वर ने इस काल विभाग को अन्य तरह से प्रस्तुत किया है जो कि साभार प्रस्तुत है –

प्रारम्भिक काल – अज्ञात काल से प्रारम्भ होकर सत्रहवीं शताब्दी के भामह तक का है। इस में मुख्य रूप से भरत और भामह दो आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भरत के नाट्य शास्त्र मे जो भी विवेचन है, वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। भरत के बाद मेधावी रूद्र आदि टीकाकार तो है किन्तु उनके ग्रन्थ दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है। भामह ने अपने काव्यालङ्.कार में भरत से हटकर ३८ स्वतन्त्र अलङ्.कारों का विवेचन किया है।

रचनात्मक काल – यह काल भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक फैला हुआ है। इसे साहित्य शास्त्र में यदि स्वर्ण युग के नाम से कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य शास्त्र के समस्त सम्प्रदाय, अलङ्.कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय इसी काल की देन हैं। इनके आचार्य निम्नवत् हैं :–

१– अलङ्.कार सम्प्रदाय – भामह, उद्भट, रूद्रट

२– रीति सम्प्रदाय – दण्डी, वामन

३– रस सम्प्रदाय – लोल्लट, शङ्.कुक, भट्ट नायक

४– ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्दवर्धनाचार्य

अलङ्.कार सम्प्रदायवादी आचार्य जैसे भामह, उद्भट, रूद्रट आदि जहां एक तरफ काव्य के वाह्य अलङ्.कारों का निरूपण करते हैं, वहीं दण्डी और वामन ने काव्य के रीति और गुणों की व्याख्या की। लोल्लट, शङ्.कुक और भट्टनायक ने आचार्य भरत के रस सिद्धान्त की जहां व्याख्या की, वहीं आचार्य आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात् पूर्वः' कहकर ध्वनि सिद्धान्त की अपने प्रबल तर्कणा से स्थापना किया।

निर्णयात्मककाल – यह महत्वपूर्ण काल आनन्दवर्धन से लेकर आचार्य मम्मट तक का काल है जो कि स्वर्ण युग की चरम परिणति कही जा सकती है। इस युग के सुप्रसिद्ध आचार्य लोचन एवं अभिनव टीकाकार अभिनव गुप्त, वक्रोवित्तजीवित के प्रणेता आचार्य कुन्तक, व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट आदि है। इनमें से जहां तक कुन्तकाचार्य वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ के माध्यम से वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रबल प्रतिपादक हैं वही दूसरी ओर महिम भट्ट का व्यक्ति विवेक ग्रन्थ ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल विरोधी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त धनिक, धनंजय आदि भी इसी काल की अनुपम देन हैं।

व्याख्या काल – आचार्य मम्मट से लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डित तक का यह काल अति महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि ने काव्य का साड्.गोपाड्.ग विवेचन प्रस्तुत किया हैं। इस काल के आचार्यों का वर्गीकरण निम्नवत् हैं। जो कि आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया हैं।

– ध्वनि सम्प्रदाय	:	मम्मट, रूय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित आदि
– रस सम्प्रदाय	:	शारदातनय, शिड्.भूपाल, भानुदत्त, रूप गोस्वामी
– कवि शिक्षा	:	राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरि सिंह, अमर चन्द्र, आदि
– अलड्.कार सम्प्रदाय	:	पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

कुछ विद्वानों ने ध्वनि सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया और इस तरह से उन्होंने साहित्यशास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया।

१—	पूर्व ध्वनि काल	—	इसे प्रारम्भ से लेकर आनन्द वर्धन ८०० विक्रमी तक माना जा सकता हैं।
२—	ध्वनि काल	—	इसे आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट १००० विकम्र तक माना जाता है।
३—	पश्चात् ध्वनिकाल या उत्तर ध्वनि काल	—	मम्मट से लेकर आचार्य जगन्नाथ १७५० विकम्री तक माना जाता है।

कुछ लोगों ने रस को काव्य की आत्मा कहा तो कुछ ने अलंकारों को। किसी ने रीति को आत्मा माना तो किसी ने ध्वनि और वक्रोक्ति को। इस तरह साहित्य शास्त्र में (१) रस सम्प्रदाय (२) अलङ्.कार सम्प्रदाय (३) रीति सम्प्रदाय (४) ध्वनि सम्प्रदाय (५) वक्रोक्ति सम्प्रदाय— ये पांच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। भरत से लेकर पण्डितराज तक जो स्रोतस्विनी वाग्धारा प्रवाहित हुयी वह इन्हीं सम्प्रदायों में कहीं न कहीं समाहित है। इसका विवरण अधोलिखित है —

१— <u>रस सम्प्रदाय :—</u> आचार्य नन्दिकेश्वर को राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य मीमांसा में रस सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक माना, किन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अतः आचार्य भरत को ही इस सम्प्रदाय का पोषक माना जाता है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः" "यह प्रसिद्ध सूत्र ही नाट्यशास्त्रकार द्वारा रस सिद्धान्त का प्राणभूत तत्व स्वीकृत किया गया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी को आधार मानकर रस की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है, जो कि कालान्तर में रस सिद्धान्त की आधारशिला बनी।

रस सिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक, भट्ट लोल्लट, शङ्.कुक, अभिनव गुप्त आदि आचार्य प्रसिद्ध है।

अलङ्.कार सम्प्रदाय – इसके प्रतिपादक आचार्य भामह हैं इन्होंने रस की सत्ता तो माना, किन्तु उसे प्रधान न मानकर अलङ्.कार को प्रधानता प्रदान की। इनमें उदभट्ट, दण्डी, रूद्रट, प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि आते हैं। इन्होंने कहा कि अलङ्.कार विहीन काव्य की सत्ता वैसे ही नहीं मानी जा सकती जैसे कि उष्णता के अभाव में अग्नि का अस्तित्व। जयदेव ने अपने चन्द्रलोक में तो व्यङ्.गय के माध्यम से अपनी बात कही –

"अङ्.गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्.कृती।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णनमनलङ्.कृती"

अलङ्.कार सम्प्रदायवादियों ने काव्य में अलङ्.कारों की महत्ता को स्वीकार किया तथा रसवत्, प्रेय उर्जस्वित और समाहित इन चार प्रकार के रसवदलङ्.कारों में उनका अन्तर्भाव स्वीकृत किया।

रसवद्दर्शित स्पष्टश्रृङ्.गारादि रसं यथा–भामह, काव्यालङ्.कार ३ – ६

मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। दण्डी काव्यादर्श ३ – ५१

<u>रीति सम्प्रदायः –</u> 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस सूत्र के माध्यम से रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन इसके प्रणेता है। "विशिष्टपदरचनारीतिः" अर्थात् विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। रचना में माधुर्यादि गुणों का समावेश ही विशेषता है और यही विशेषता ही रीति है। रीति सम्प्रदाय को कहीं–कहीं गुण सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

गुणों तथा अलङ्.कारों के विवेचन के प्रसङ्.ग में आचार्य वामन ने "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तथा "तदतिशयहेतवस्तवलङ्.कारा" इन दोनों सूत्रों के माध्यम से भेद प्रदर्शित किया तथा गुणों को विशेष महत्व दिया। वामनाचार्य ने काव्य में रीति की प्रधानता को स्वीकारा तथा अलङ्.कारों को गौण बताया। आचार्य मम्मट ने रीति को 'रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्" शरीर के अङ्.गों की तरह ही माना इससे अधिक कुछ नहीं।

<u>वक्रोक्ति सम्प्रदाय –</u> "वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्" कहकर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की तथा रीति सम्प्रदाय ने इस मन्तव्य की "रीति ही प्रधान तत्व है" को नकार दिया। दण्डी ने "भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोकिक्तश्चेति वाङ्.गमयम' तथा वामन ने "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' कहकर वक्रोक्ति के महत्व का प्रतिपादन तो किया किन्तु उन सबके मत से वक्रोक्ति सामान्य अलङ्.कारादिरूप ही हैं। आचार्य कुन्तक ने इसके महत्व का प्रतिपादन किया। वामन की पांचाली, वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों को देश भेद के आधार पर न मानते हुये रचना शैली के आधार पर कुन्तक ने वामन की वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौड़ी को विचित्र मार्ग तथा पांचाली को मध्यममार्ग नाम दिया।

५– <u>ध्वनि सम्प्रदायः –</u> सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा। –"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" यह कहकर काव्य की आत्मा ध्वनि मानने वाले आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापित किया। ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट ने प्रबल तर्कणा के माध्यम से सभी विरोधियों का खण्डन किया। विरोधों के बावजूद भी यह ध्वनि सिद्धान्त हीरे की तरह चमकता गया।

काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक जो भी धारा बही है उनका सिंहावलोकन आवश्यक हैं–

भरतमुनि – साहित्य शास्त्र के आकाशदीप के रूप में सबसे प्राचीन आचार्य भरत का नाम सर्वप्रथम सादर लिया जाता है। यहां हमारा तात्पर्य नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि से है। यह कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति है। मत्स्य पुराध के २४ वें अध्याय में २७ – ३२ वें श्लोक तक भरत – मुनि का पौनःपुन्येन उल्लेख किया गया है।

महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' से २–१८ के अन्तर्गत इनकों आदर पूर्वक याद किया है –

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरूतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।

—— विक्रमो० २/१८

संस्कृत नाट्य परम्परा में प्रायः सभी नाटकों की समाप्ति भरत वाक्य से ही होती है अतः 'भरत' किसी काल्पनिक व्यक्ति का नाम न होकर ऐतिहासिक है।

भरतमुनि का एक मात्र गन्थ 'नाट्यशास्त्र' जो कि समस्त कलाओं का विश्वकोष है, न कि केवल नाट्य के विषय का ही विवेचन है, इसका परिचय आचार्य भरत मुनि ने स्वयं देते हुये कहा है कि –

"नतज्ज्ञानं नतच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते। "

इसे षट्साहस्त्री संहिता भी कहते हैं क्योकि इसमें ६००० श्लोक हैं। संगीत रत्नाकर के लेखक श्री शार्ङ्देव ने भरत के ६ टीकाकारों का उल्लेख किया है –

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः

भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः।।"

समालोचना पद्धति के प्रथमावतार के रूप में आचार्य भरत का नाम अग्रगण्य है। अभिनव भारती में जहां नाट्यशास्त्र में ३६ अध्ययाय दिखाये हैं वहीं इसके प्रथम संस्करण में ३७ अध्याय हैं :—

ता एता ह्याचार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यलक्षणत्वेनपठिताः। मुनिना तु सुखं संग्रहायं यथास्थानं निवेशिता इति साम्प्रतिकं नाट्यशास्त्रं सप्तत्रिंशदध्यायेषु विभक्तम, क्वचिच्चषट्त्रिशदध्यायकम्। (नाट्यशास्त्र अभिनव भा० —६)

२— <u>मेधावी —</u> यद्यपि भामह तथा परवर्ती ग्रन्थकारों के द्वारा इनके सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। किन्तु इस अलङ्कारशास्त्री द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ आज दुर्भाग्य से प्राप्त नहीं है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इन्हें जन्मान्ध बताया है :—

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽतिप्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरूद्रकुमारदासादयः जन्मान्धा 'कवयः श्रूयन्ते।' काव्य मीमांस पृष्ठ ११—१२

३— <u>भामह —</u> आचार्य भरत के बाद और भामह से पूर्व का अनेकों शतक का समय अन्धकारपूर्ण था। इसी कड़ी में भरत के अनन्तर काव्यालङ्कार सर्वप्रथम ग्रन्थ है। प्रताप रूद्रभूषण में विद्यानाथ के द्वारा मङ्गलाचरण में इनका नाम सादर लिया गया है।[1]

१— पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः सादरं विहितांजलिः।

वक्ष्ये सम्यगलङ्कार शास्त्रं सर्वस्य संग्रहम्।।

— प्रताप —१ / मंङ्गलाचरण

ध्वन्यालोक की लोचन टीका में भी इनके नाम का उल्लेख इनके महत्व को ही प्रतिपादित करता है।[1] काव्य प्रकाशकार ने भी चित्रकाव्य के समर्थनार्थ इन्हीं के वचन का प्रमाण रूप में उद्घृत किया है।[2] इन्होंने अपने ग्रन्थ में ३८ अलड्.कार लक्षणों की रचना की। यही नहीं सभी अलड्.कारों में वक्रोकित ही प्रधान है। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया। "कोऽलड्.कारोऽनया बिना"[3] इन्होंने अपने काव्यालड्.कार ग्रन्थ में रीति, गुण, दोष, वक्राक्ति रसवदलड्.कारों के आश्रयीभूत रस का विवेचन किया। इन्होंने "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्" कहकर अन्यान्य सिद्धान्तों की भी स्थापना अपने प्रबल तर्कणा के माध्यम से इस ग्रन्थ में की है। जैसे –

१– शब्दार्थौ काव्यम्

२– भरत प्रतिपादितदशगुणानां माधुर्यादिगुणत्रयेष्वन्तर्भावः

३– वक्रोक्तेः समस्तालड्.कार मूल भूतत्वम्

४– दशविधदोषाणां सम्यक्तया विवेचनंच।

१– ध्वन्यात्मभूते श्रृड्.गारे यमकादि निबन्धनम्।

शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।।

ध्वन्या० लोचन २/३८

२– काव्य प्रकाश – ६/४८

३– सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। तेनात्र यत्नः कार्य

कोऽलड्.कारोऽनया विना ।

काव्यलड्.कार २/८५

भामह के (१) काव्यालङ्.कार (२) प्राकृत मनोरमा (३) छन्दः शास्त्र विषयक जिसमें दो तो उपलब्ध हैं किन्तु तीसरे का अनुमान किया जाता हैं। प्राकृत मनोरमा प्राकृत प्रकाश की टीका है और काव्यालङ्.कार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। जिसमें छः परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद **काव्यशरीर** है। इसमें ६० श्लोक, हैं। द्वितीय और तृतीय परिच्छेद **अलङ्.कारवर्णन** विषयक है जिसमें १६० श्लोक हैं। चतुर्थ परिच्छेद **दोषनिरूपण** हैं और इसमें ५० श्लोक है। पंचम परिच्छेद **न्याय निर्णय** का है और इसमें ७० श्लोक हैं। षष्ठ परिच्छेद **शब्द शुद्धि** विवेचन का है इसमें ६० श्लोक हैं। भामह ने स्वयं इसका विवेचन प्रस्तुत किया है –

षष्ठ्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ठ्या त्वलङ्.कृतिः ।
पंचाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः ।।
षष्ठ्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदः भामहेन क्रमेण वः ।।

दण्डी–दण्डी का कार्यकाल अष्टम शताब्दी में पड़ता है जिसको उन्होंने **अवन्तिसुन्दरी** कथा में निरूपित किया है। अलङ्.कार शास्त्र पर भामह के बाद स्वतन्त्र रूप से इन्होंने ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम काव्यादर्श है। "काव्यशोभाकरान् धर्मान लङ्.कारान् प्रचक्षते" यह कहकर काव्य शोभाधायक अनेक अलङ्.कारों का वर्णन इन्होंने किया है और गुणों की विशेष महत्ता प्रदर्शित की। अलङ्.कार सम्प्रदायवादी दण्डी ने भामह की समीक्षा भी की है। राजशेखर ने निम्न श्लोक से दण्डी के तीन ग्रन्थें का उल्लेख किया है –

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयोदवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।

दण्डी के ये तीन ग्रन्थ (१) काव्यादर्श (२) दश कुमार चरित

(३) अवन्ति सुन्दरी कथा प्रसिद्ध है।

संस्कृत साहित्य में दण्डी एक महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हैं –

जाते जगति बाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।

कवी इति ततो व्यासे कवयस्तवयि दण्डिनि।।

उनकी इस प्रसिद्धि का आधार मूल रूप से दश कुमार चरित को जाता है –

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, काव्य के विविध भेद, कथा–आख्यायिका का भेद प्रदर्शन और खण्डन तथा अन्त में कवित्व शक्ति हेतु प्रतिभा, श्रुत तथा अभियोग इन तीन गुणों की अनिवार्यता बताई गयी है।

द्वितीय परिच्छेद में ३५ अलङ्.कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं।

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमक का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में इस प्रकार के दोषों का विवेचन प्रस्तुत है।

<u>भट्टोद्भट या उद्भट –</u> इस अलङ्.कार शास्त्री का जन्म कश्मीर में हुआ था। ये कश्मीर नरेश जयादित्य की सभा के राज पण्डित ही नहीं, अपितु सभापति भी थे। इस तरह से उद्भट का आठवीं-शताब्दी का अन्तिम तथा नवम् शताब्दी का प्रथम भाग माना जा सकता है।

भट्टोदभट के ३ ग्रन्थ – १– भामह विवरण, २– काव्यालड्.कार सारसड्.ग्रह, ३– कुमार सम्भव है। इनमें से भामह विवरण जो कि भामह के काव्यालड्.कार के व्याख्या के रूप में है सम्प्रति अनुपलब्ध है। दूसरा कुमार संभव है जो कि महाकवि कालिदास के 'कुमार सम्भव' नामक ग्रन्थ से भिन्न हैं। काव्यालड्.कार सार सड्.ग्रह–६ वर्गों में विभक्त इस ग्रन्थ में कुल ७६ कारिकायें और ४१ अलड्.कारों का लक्षण दिया गया है। उपर्युक्त ४१ अलड्.कारों का वर्णन ७६ कारिकाओं में किया गया है और प्रायः शताधिक श्लोक लक्षणकार ने अपने ग्रन्थ 'कुमार सम्भव' से उदघृत किये हैं। उद्भट ने (१) पुनरूक्तवदाभास (२) काव्यलिड्.ग (३) छेकानुप्रास (४) दृष्टान्त और (५) सड्.कर इन सबको एक रूप में स्थापित किया है। साथ ही साथ रसवत्, प्रेय, उर्जस्वित् समाहित और श्लिष्ट ये ५ ऐसे अलड्.कार हैं जिनका लक्षण अगर किसी ने स्पष्ट किया है तो वे उद्भट ही है। इस प्रकार पुनरूक्तवदाभास इत्यादि ५ अलड्.कारों की स्थापना तथा रसवत् इत्यादि ५ अलड्.कारों के लक्षणों का स्पष्टीकरण इनकी साहित्य शास्त्र को अनुपम देन है।

भरत के नाट्य शास्त्र के टीकाकार के रूप में भी इनका नाम सहर्ष लिया जाता है। शार्ड्.ग देव ने अपने सड्.गीत रत्नाकर में नाट्य शास्त्र में व्याख्याताओं की सूची निम्न रूपेण प्रकाशित की हैं –

"व्याख्यातारों भारतीये लोल्लटोद्भटशड्.कुकाः।

भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमद् कीर्तिधरोऽपरः ।।

वामनः रीति सम्प्रदाय, के संस्थापक आचार्य वामन का नाम प्रमुख अलड्.कार शास्त्रियों में समादर पूर्वक लिया जाता है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर इन्होंने रीति

को काव्य की आत्मा कहा। उद्‌भट् के समान वामन भी कश्मीर नरेश जयादित्य के राज्यमंत्री थे। इसे राजतरंगिणी में इस प्रकार वर्णित किया गया है –

मनोरथः शङ्.खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।

बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ।।

राजतरङ्.गणी ४ – ४६७

जयादित्य के शासन काल में होने के कारण इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवम् शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अलङ्.कार शास्त्र में अप्रतिम सूत्रशैली में लिखा गया काव्यालङ्.कार सूत्र एक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है और प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है, अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३१२ है।

प्रथम अधिकरण का नाम शरीराधिकरण है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है इनमें दो अध्यायों में ग्रन्थकार ने काव्य के दोषों का विवेचन किया है। तीसरे अधिकरण का नाम गुण विवेचनाधिकरण है, इसमें दो अध्यायों में कवि ने काव्य के गुणों का विवेचन किया है, साथ ही साथ ग्रन्थकार ने अलङ्.कार तथा गुण के बीच भेद भी प्रदर्शित किया है। चतुर्थ अधिकरण का नाम आलङ्.कारिक अधिकरण है, इसमें तीन अध्याय हैं। पांचवे अधिकरण का नाम प्रायोगिकाधिकरण है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्द प्रयोग के विषय में विवेचन है।

काव्यालङ्.कार सूत्र वामन की एक अद्वितीय कृति है जिसक साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में अपना एक अमूल्य योगदान है।

रूद्रट – साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य के रूप में आचार्य वामन के अनन्तर रूद्रट का प्रमुख ान है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में –काकुबक्रोक्तिर्नामशब्दालङ्.कारोऽयमिति रूद्रटः' कहकर रूद्रट को स्मरण किया है।

कश्मीर देशीय रूद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्.कार है जो आर्या छन्द है इसमें ७१४ आर्यायें है। १६ अध्यायों में विमक्त ११ अध्यायों में अलङ्.कारों का ही मात्र विवेचन है। अन्तिम अध्यायों में रस की मीमांसा की गयी है। इससे प्रेय नामक रस का विवेचन करके रसो की संख्या १० बतायी गयी है। वैज्ञानिक आधार पर अलङ्.कारों का विभाजन करके इन्होंने एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। कुछ प्राचीन अलङ्.कारों का इन्होंने नया नामकरण किया है। जैसे व्याजस्तुति के लिये व्याजश्लेष शब्द का प्रयोग किया है, स्वमावोक्ति के लिये जाति तथा उदात्त के लिये अवसर आदि नामों का प्रयोग किया है।

भेदवादियों की दृष्टि से रूद्रट और रूद्रमट् दो नाम अलग – अलग व्यक्तियों के बताये गये हैं किन्तु अधिकांशतः दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

भट्टनायक – कश्मीर देशीय भट्टनायक वर्धन के समकालीन थे। दशम् शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री भट्टनायक ध्वनि विरोधी आचार्य है। इनका एक ग्रन्थ 'हृदय दर्पण' है जो कि उपलब्ध नहीं है। इन्होंने रस के विषय में सांख्य दर्शन के आधार को ग्रहण करके मुक्तिवाद सिद्धान्त का अन्वेषण किया है।

इन्होंने शब्द में अभिधा व्यापार, भावकत्व और भोजकत्व तीन प्रकार के व्यापार माने हैं। अभिधा व्यापार से सामान्य अर्थ की उपस्थिति, भावकत्व से साधारणीकरण और भोजकत्व से सामाजिक को रस की अनुभूति होती है। इसी बात को हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक में पृष्ठ ६१ पर इनके मत को श्लोक रूप में प्रकट किया है।

अभिधाभावना चान्या तद्भोगी कृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्.कृती ततः।।
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृङ्.गारादिगणो मतः ।
तद्भोगी कृति रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।।

मुकुल भट्ट – अभिधावृत्तिमात्रिका इनका ग्रन्थ है ये कश्मीर के रहने वाले है और कल्लट के पुत्र हैं। इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है –

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता,
सूरि प्रबोधनामेयमभिधावृत्तिमातृका।

(अभि० ग्रन्थतः)

'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ में अभिधा और लक्षणा का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत है। काव्य प्रकाशकार ने इसका खण्डन भी प्रबल तर्कणा से किया है।

प्रतीहारेन्दुराज – ये कश्मीर देशीय है और मुकुल भट्ट के शिष्य हैं। इनका भी समय आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व का है। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

"महाश्रीप्रतिहारेन्दुराजविरचितामामुद्भटालङ्कार लघुवृत्तौ षष्ठोऽध्यायः (उद्भटालङ्कार, षष्ठाध्यायान्ते)

<u>**आनन्द वर्धन –**</u> साहित्यशास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में आनन्दवर्धनाचार्य का नाम प्रमुख है। राजतरंगिणीकार ने इन्हें कश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा का समकालीन बताया है।

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।

प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽन्तिवर्मणः ।।

इससे इनका समय नवम् शताब्दी ठहरता है। इन्होंने विषमवाण लीला, अर्जुन चरित्र, देवी शतक, तत्वालोक तथा ध्वन्यालोक इन पांच ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें सबसे प्रमुख ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इसमें काव्य के आत्मभूत ध्वनि तत्व का प्रतिपादन किया गया हैं। ग्रन्थ में ४ उद्योत है – प्रथम उद्योत में –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः सम्मानात् पूर्व –

स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्त माहुस्तमन्ये' ।।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमुचुस्तदीयं।

तेन ब्रूमः सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

इस प्रकार तीन विरोधी ध्वनि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय उद्योत में अविवक्षित वाच्य और विवक्षित वाच्य के भेदोपभेदों का सविस्तार विवेचन है। तृतीय उद्योत में पदों, वाक्यों, पद्यांश और रचना आदि के द्वारा ध्वनि की प्रकाश्यता का प्रतिपादन और रसों के विरोध तथा अविरोधापादन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि तथा गुणीभूति व्यङ्ग्य के प्रयोग के प्रभाव से कवि के काव्य में अनन्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसे ही ध्वनिवादी आचार्य ने पुष्ट करने की चेष्टा की है।

ध्वन्यालोक में तीन भाग हैं। एक मूलकारिका भाग, दूसरी उनकी वृत्ति भाग और तीसरा भाग उदाहरण रूप है। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने –

इतिकाव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृति विधायी सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः। कहकर ध्वनि को अस्मदुपज्ञ रहा है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य को ही कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों का निर्माता मानना जाना उचित है। ध्वन्यालोक पर अभिनव गुप्त की टीका लोचन सुप्रसिद्ध है। लोचनकार ने लिखा है

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि,

अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।

अभिनव गुप्त –

अभिनवगुप्तपादाचार्य भी कश्मीर देश के निवासी हैं। इन्होंने ध्वन्या लोक पर लोचन नाम की टीका लिखी है। 'अत्रिगुप्त' नामक विद्वान वंश में लगभग २०० वर्ष बाद अभिनव गुप्त पैदा हुये। इसी वंश के वराह गुप्त जो कि अभिनव गुप्त के बाबा थे और पिता चुलुखक तथा अपनी उत्पत्ति का वर्णन अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक में किया है –

तस्यान्वये महित कोऽपि वराह गुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।

गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ।।

तस्यात्मजः चुलुखकेति जनो प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।

यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलङ्.कुरुते स्म भक्तिः।।

अभिनव गुप्त के तीन ग्रन्थ हैं । (१) विवृत विमर्शिनी (२) कमस्तोत्र (३) भैरव स्तोत्र।

अभिनव गुप्त का काल दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी

के प्रारम्भ में था। इनके लगभग ४१ ग्रन्थ हैं। साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ३ ग्रन्थ ये हैं – ध्वन्यालोक लोचन जो कि ध्वन्या लोक की टीका है और दूसरा 'अभिनव भारती' जो कि नाट्य शास्त्र पर टीका रूप में हे और तीसरा घटकर्परविवरण जो मेघदूत की टीका है। शेष अन्य ग्रन्थ शैव दर्शन या स्तोत्रपरक है।

<u>राजशेखर :–</u> प्रसिद्ध नाटककार तथा सूक्ष्म विवेचक इस साहित्यकार का जन्म स्थल कश्मीर न होकर बाहर रहा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि अकाल जलद के पौत्र और दुर्दक तथा शीलवती के पुत्र थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्ति सुन्दरी था। जो निसर्गतः विदुषी और कवित्व प्रतिमाशालिनी प्राप्त हुयी थी।

मुख्य रूप से कवि और नाटककार राजशेखर की चार कृतियां है – बाल रामायण, बाल भारत, बिद्धशालभंजिका, कर्पूर मंजरी, इत्यादि।

साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्य मीमांसा है। इसमे कुल १८ अध्याय है। यह एक विलक्षण ग्रन्थ है।

इस तरह से इन्हे कविशिक्षा सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी माना जा सकता है।

<u>धनंजय :–</u> ये दशम् शताब्दी के एक प्रमुख नाट्यशास्त्री हैं। भरत के नाट्य शास्त्र के अनन्तर इनका दशरूपक ग्रन्थ विद्वत् समाज मे सर्वाधिक समादृत रहा।

यह ग्रन्थ कारिका रूप मे लिखा गया है। चार प्रकाशों मे विभक्त इस ग्रन्थ मे धनंजय ने नाटक के भेदोपभेद सहित रूपकों से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातों का संकलन किया है। इनके दश रूपक ग्रन्थ पर इनके भाई धनिक ने अवलोकत्रयक टीका लिखी है।

<u>कुन्तकः–</u> वकोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप मे इनका नाम समादर से लिया जाता हैं। ये निश्चित रूप से महिम भट्ट के पूर्ववर्ती है। इनका समय दशम शताब्दी के पहिले मानना पड़ेगा क्योकि ये महिम भट्ट के

पूर्ववर्ती है।

'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ के प्रभाव से ही ये सभी के बीच आज भी समादृत है। कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग है। कारिका और वृत्ति दोनो कुन्तक द्वारा स्वरचित है। ग्रन्थ चार उन्मेषो में विभक्त है। ये अभिधावादी आचार्य है। ये लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ को मानते तो हैं किन्तु इनका अन्तर्भाव वाच्य मे ही कर लेते हैं।

महिम भट्टः— ये ध्वनि विरोधी आचार्य हैं, इनका समय दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग पड़ता है। ये नैयायिक हैं अतः इन्होने ध्वनि को सामान्य रूप से और उसके उदाहरणों को विशेष रूप से अनुमान के अन्तर्गत रखा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही इन्होने व्यक्ति विवेक ग्रन्थ लिखा है। इसी के रूप मे ये ज्यादा जाने जाते है अपने मूल रूप से कम।

व्यक्ति विवेक मे तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श मे ध्वनि का अपनी तर्कणा से खण्डन और समस्त ध्वनिपरक उदाहरणों का अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखाया है। द्वितीय विमर्श मे काव्य के दोष निरूपित हैं। इसमे अनौचित्य काव्य का मुख्य दोष है। तृतीय विमर्श मे ध्वनि के समस्त ४० उदाहरणों को अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखलाया है।

क्षेमेन्द्र :— औचित्य सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक एवं प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण ग्रन्थ मे अपना परिचय दिया है। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र तथा बाबा का नाम सिन्धु था। इनके ग्रन्थों की संख्या विस्तृत है। लगभग ४० ग्रन्थों की रचना इन्होनें की हैं। किन्तु वे सब उपलब्ध नहीं है।

औचित्य विचार चर्चा मुख्यतया अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन्होने औचित्य को रस का प्राणभूत तत्व कहा है।

रस जीवित भूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।। इन्होने इसी कम मे अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण और औचित्य को अत्यधिक महत्व दिया।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौ चित्यकन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

'सुवृत्ततिलकः छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ है। दशावतारचरित भी इन्ही का एक ग्रन्थ है।

<u>भोजराज :–</u> राजा भोज इतिहास मे विद्वानों के आश्रय दाता एवं उदार दानशील नृपति के साथ – साथ एक प्रसिद्ध अलङ्कार शास्त्रो भी थे। ये कश्मीर नरेश अनन्त वर्मा के समकालीन थे, अतः इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी मे माना जाता हैं। कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी मे इसका उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है।

"स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ ।

सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविवान्धवौ ।।"

अलङ्कार शास्त्र के विषय मे इनक दो ग्रन्थ है – (१) सरस्वती कण्ठाकरण और (२) श्रृङ्गार प्रकाश।

<u>सरस्वती कण्ठाभरण</u> – इसमे ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे दोष और गुण का विवेचन है, द्वितीय परिच्छेद और तीसरे मे २४ शब्दालङ्कारो का तथा चतुर्थ परिच्छेद मे २४ उभयालङ्कारों का वर्णन है। पंचम् परिच्छेद मे रस, भाव, पंचसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन किया गया है।

इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रृङ्गार प्रकाश है। इस विशालकाय ग्रन्थ मे ३६ प्रकाश हैं। इसमें ग्रन्थकार ने श्रृङ्गार रस को ही प्रधान रस कहा है :–

श्रृङ्गारवीरकरूणाद्भुतरौद्रहास्य –

वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।

आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु

श्रृङ्गारमेवरसनाद्रसमामनामः।।

प्रथम आठ प्रकाशों मे शब्द एवं अर्थ विषयक विविध वैयाकरणों के मत है। नवम् तथा दशम् प्रकाशों मे गुण तथा दोषो का विवेचन है। ग्यारहवें से लेकर बारहवें प्रकाशों मे महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन है। शेष प्रकाशों में ग्रन्थकार ने विविध उदाहरणों के माध्यम से रसों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है। इस रचना ने भोजराज को साहित्य शास्त्र के आकाश में एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे सदा – सदा के लिए चिर प्रतिष्ठित कर दिया है। भोजराज का श्रृंगार रस कोई सामान्य श्रृंगार नहीं है। अपितु इसमे जीवन के चतुर्विध पुरूषार्थ समाहित हो जाते हैं।

<u>वाग्देवतावतार मम्मट :–</u>

आचार्य मम्मट का नाम साहित्य शास्त्र के आकाश में उज्ज्वलतम् नक्षत्र के रूप में लिया जाता है। ये भी कश्मीर के निवासी थे। काव्य प्रकाश की 'सुधा सागर' टीका के निर्माता भीमसेन के अनुसार ये कश्मीर देशीय जैय्यट के पुत्र थे। कैय्यट तथा उव्वट दोनो ही इनके छोटे भाई थे। किन्तु यह मत ठीक नही है क्योकि उव्वट कृत वाजसनेय संहिता भाष्य मे उनका परिचय इस प्रकार है:–

आनन्दपुर वास्तव्य वज्रटाख्यस्य सूनुना।

मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति।।

कैय्यट को जैय्यट का आत्मज कहा है किन्तु उव्वट तो वज्रट के पुत्र है। अतः 'कैय्यटो जैय्यटात्मजः' के अनुसार कैय्यट जैय्यट के पुत्र होने के कारण मम्मट के भाई जान पड़ते हैं।

'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' की जो बात कही है वह भी तर्क संगत नही है। क्योंकि कश्मीर भले ही विद्या का केन्द्र रहा किन्तु उस समय [illegible] विद्या का केन्द्र नही था, अतः कश्मीर देशीय मम्मट का कश्मीर छोड़कर विद्याध्ययनार्थ वाराणसी आना तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता है।

'काव्य प्रकाश' के निर्माता के रूप में वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का नाम साहित्यशास्त्र में बहुत ही आदर से लिया जाता हैं। इसमे अल्लट का भी सहयोग रहा है। इसी बात को काव्य प्रकाश के अन्त मे इस प्रकार कहा गया है –

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्

न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः।।

सूत्रात्मक शैली मे लिखा गया यह ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र का नवनीत है यह कहना अत्युक्ति नही होगी। कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण इसके तीन भाग है। कतिपय विद्वान् कारिका और वृत्ति दोनों का कर्त्ता आचार्य मम्मट को मानते हैं। इन्होने उदाहरण जो भी दिये है वे दूसरों द्वारा रचित हैं। 'काव्य प्रकाश निदर्शना नामक टीका के निर्माता राजानक आनन्द ने इस बात को साररूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है:'

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधि : ।

ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लट सूरिणा।।

आचार्य मम्मट ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त 'काव्य प्रकाश' जैसे जिस ग्रन्थ की रचना की उसी को अल्लट नामक विद्वान ने पूर्ण किया।

इस ग्रन्थ मे १० उल्लास हैं। इसमें 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस लक्षण के अनुसार कमशः एक – एक का वर्णन समीक्षात्क रूप से किया है। जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन इस ग्रन्थ मे मिलता हैं, वैसा अन्यत्र नही मिलता है।

सूत्र शैली और विषय बाहुल्य के कारण काव्य प्रकाश एक अद्वितीय ग्रन्थ है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा एवं विलक्षण वैदुष्य तथा साहित्यशास्त्र के प्रति की गयी-

उनकी सेवा अविस्मरणीय है। प्रथम काव्य का लक्षण और उसके भेद – प्रभेद का वर्णन और द्वितीय उल्लास मे अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना के भेद शाब्दी व्यंजना का निरूपण किया गया हैं। तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना का निरूपण है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य का, पंचम उल्लास मे गुणीभूत व्यंग्य काव्य का और षष्ठ उल्लास मे चित्र काव्य का वर्णन किया गया है। सप्तम उल्लास मे दोषो का और अष्टम गुण, रीति तथा वृत्तियों का और नवम् तथा दशम् उल्लास मे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों का भेद – प्रभेद सहित निरूपण है।

मधुमक्षिकावत् विशाल साहित्य के अक्षय भण्डार को गागर मे सागर की तरह समाहित करने वाले आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का अध्ययन किये बिना साहित्य शास्त्र का मूल मन्तव्य समझ पाना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हैं। इस हेतु किया गया आचार्य मम्मट का प्रयास स्तुत्य है।

<u>सागरनन्दी :–</u>

दशरूपककार धनंजय के लगभग १०० वर्ष बाद सागर नन्दी ने ''नाटकलक्षणरत्न कोष'' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वस्तुतः काव्य शास्त्र के नही अपितु नाट्य शास्त्र के आचार्य हैं। यह ग्रन्थ भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित हैं तथा कारिका रूप मे लिखा गया हैं।

<u>राजानक रूय्यक :–</u>

'काव्यप्रकाश संकेत' टीका के रचयिता के रूप में आचार्य रूय्यक का नाम मम्मटाचार्य के उत्तरवर्ती साहित्यकारों मे लिया जाता हैं। राजानक शब्द का प्रयोग इन्हे कश्मीरी सिद्ध करता हैं। ये मंखक कवि के शिष्य थे। अतः इनका काल ११वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना उचित है।

सहृदयलीला, व्यक्ति विवेक की टीका तथा अलंकार सर्वस्व ये तीन पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त काव्य प्रकाश संकेत, अलंकार मंजरी, अलंकारानुसारिणी, नाटक मीमांसा इत्यादि ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं।

हेमचन्द्र :–

यह सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हैं। साहित्यशास्त्र पर इन्होने काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की। यह संग्रह ग्रन्थ सा है जिसमे काव्य मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक के विस्तृत उद्धरण दिये गये हैं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र :–

यह हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध जैन आचार्य के शिष्य हैं। ये दोनों एक व्यक्ति न होकर अलग–अलग नाम हैं। इन्होंने नाट्य दर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की है। जो कि कारिकारूप में है। इनका समय बारहवीं शताब्दी में निश्चित होता हैं। ग्रन्थ में चार विवेक हैं। इन्होंने रस को सुखात्मक के साथ–साथ दुखात्मक भी माना है।

वाग्भट् –

यह भी एक सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हैं। इन्होंने साहित्य के अलावां आयुर्वेद के क्षेत्र में भी ख्याति अर्जित किया। इनकी प्रसिद्ध कृतियां निम्नवत् हैं –

१– वागभटालङ्.कार

२– काव्यानुशासन

३– छन्दोनुशासन

४– अष्टांग हृदय

अरि सिंह और अमरचन्द्र –

इन दोनों जैनाचार्यों ने भी मिलक नाट्यदर्पणकार की तरह काव्यकल्प लता वृत्ति नामक ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर –

जैन विद्वानों की परम्परा में इस विद्वान ने भी कवि कल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की किन्तु यह पूर्व ग्रन्थ काव्य कल्प लता वृत्ति का ही एक अनुकरण मात्र है।

जयदेव –

गीतगोविन्दकार जयदेव का नाम संस्कृत साहित्य के रसिक के लिये अपरिचित

नहीं है। इनके ग्रन्थों में चन्द्रालोक, प्रसन्न राघव, गीत गोविन्द तीन अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक में दस मयूख हैं। बहुत ही सरल और सुन्दर शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ में कवि ने अपने वैदुष्य का कुशल परिचय दिया है। प्रसन्न राघव नाटक का प्रभाव उत्तरवर्ती साहित्यकारों पर इतना पड़ा कि गोस्वामी जी ने इनकी पंक्तियों का कहीं–कहीं अक्षरशा अनुवाद कर दिया है जो कि बहुत ही अच्छा बन पड़ा है।

<u>विद्याधर –</u>

एकावलीकार विद्याधर दक्षिण भारत की विभूतियों में से हैं। इन्होंने साहित्य शास्त्र में अप्रतिम योगदान किया है। इनका एकमात्र ग्रन्थ एकावली है, इसमें आठ उन्मेष या अध्याय हैं। इनमें कमशः काव्यस्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि भेद, गुणी भूत व्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों का विवेचन किया गया है। इनका समय उड़ीसा के राजा नरसिंह द्वितीय के शासनकाल में होने के कारण बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी के बीच का माना जा सकता है।

<u>विद्यानाथ</u>

'प्रतापरूद्रयशोभूषण," इनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया अप्रतिम ग्रन्थ है। इसमें भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं काकतीयवंशीय राजा प्रताप रूद्र की स्तुति प्रशंसा परक चाटु श्लोकों के माध्यम से स्वयं निर्मित उदाहरणों द्वारा किया गया है। प्रताप रूद्र राजा का समय चूंकि चौदहवीं शताब्दी का आरम्भिक भाग है। अतः विद्याधर का भी यही समय माना जा सकता है। इसी के आधार पर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ने "शिवराज भूषण" नामक अलंकार प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है।

<u>विश्वनाथ कविराज –</u>

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कविराज विश्वनाथ का स्थान अप्रतिम है। इनका साहित्य दर्पण ग्रन्थ साहित्य के विद्यार्थियों के लिये अपरिचित प्राय नहीं है। इन्होंने 'श्री चन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः' कहकर अपने को चन्द्रशेखर का पुत्र अभिव्यक्त किया है। साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद से पता चलता है कि ये किसी राज्य के <u>सन्धि विग्रहिक</u> अर्थात् मन्त्री थे। इन्होंने 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' कहकर अपने को १८ भाषाओं का ज्ञाता सिद्ध किया है। अद्यतन प्राप्त साहित्य दर्पण की

हस्तलिखित प्रतिलिपि से यह ज्ञात होता है कि यह चौदहवीं शताब्दी के थे।

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुल दस परिच्छेद हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके छठें परिच्छेद में नाट्य शास्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों का समावेश है। काव्य प्रकाश की जटिलता न होकर ग्रन्थ के सरल और सुबोध शैली में लिखे जाने के कारण ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय बन गया है।

इनकी अन्य रचनाओं में काव्य प्रकाश दर्पण, राघव विलास, कुवलयाश्वचरित, प्रभावती परिणय, चन्द्रकला नाटिका, नरसिंह विजय तथा प्रशस्ति रत्नावली आदि हैं।

<u>शारदा तनय –</u>

'भाव प्रकाशन' ग्रन्थ के रचियता आचार्य शारदा तनय अलंकारशास्त्री न होकर नाट्य शास्त्र के आचार्यों में से हैं। भाव प्रकाशन ग्रन्थ में भाव, रसस्वरूप, रसभेद, नायक–नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्येतिहास, दश रूपक, नृत्य भेद तथा नाट्य प्रयोग का वर्णन है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता हैं।

<u>शिङ्गभूपाल –</u>

यह भी नाट्यशास्त्री हैं। इनके ग्रन्थ का नाम रसार्णव सुधाकर है। इसमें रञ्जकोल्लास, रसिकोल्लास तथा भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। इनकी शैली सरल और सुबोध हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

भानुदत्त –

यह मध्य भारत से सम्बन्ध रखते हैं, इनके दो ग्रन्थ हैं। पहला रसमंजरी, दूसरा रसतरंगिणी इसके अलावां इनका एक गीति काव्य भी है। जो 'गीतगौरीपति' है।

<u>रूपगोस्वामी –</u>

वृन्दावन की विभूति रूप गोस्वामी की सत्रह कृतियां है। इनमें हंसदूत, उद्धवसंदेश, विदग्धमाधव, ललित माधव और दानकेलिकौमुदी, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि तथा नाटक चन्द्रिका यह आठ ग्रन्थ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वल नीलमणि यह दो ग्रन्थ रस विषय से सम्बन्धित हैं।

<u>केशवमिश्र –</u>

केशव मिश्र ने अलङ्कारशेखर नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें आठ अध्याय

या आठ रत्न हैं।

कवि कर्णपूर –

अलंकार कौस्तुभ तथा चैतन्य चन्द्रोदय नामक इनके दो ग्रन्थ हैं।

कवि चन्द्र –

यह कवि कर्ण पूर के पुत्र थे। इनके सारलहरी तथा धातु चन्द्रिका नामक दो ग्रन्थ हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है।

अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराजजगन्नाथ का वर्णन इसके पहले किया जा चुका है। अतः पिष्ट–पेषण उचित नहीं प्रतीत होता है।

आशाधर भट्ट –

इनके पिता का नाम राम जी तथा गुरू जी का नाम धरणीधर सूचित किया है। इनके अलङ्.कार शास्त्र विषयक तीन ग्रन्थ हैं – कोविदानन्द, त्रिवेणिका, अलङ्.कार दीपिका। इनका समय अठ्ठारहवीं शताब्दी है।

नरसिंह कवि –

इनके अलङ्.कार शास्त्र विषयक ग्रन्थ का नाम नंजराजयशोभूषण है। इसमें सात विलास या अध्याय हैं – नायक, काव्य, ध्वनि, रस, दोष, नाटक, तथा अलङ्.कार हैं। यह भी अठ्ठारहवीं शताब्दी के अलङ्.कार शास्त्री हैं।

विश्वेश्वर पण्डित –

ये संस्कृत अलङ्.कार शास्त्र के उज्ज्वल अन्तिम नक्षत्र हैं। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। विश्वेश्वर पण्डित ने व्याकरण, न्याय और साहित्य शास्त्र पर उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य शास्त्र पर इनका उत्कृष्ट ग्रन्थ अलङ्.कार कौस्तुभ है। इसमें अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराजजगन्नाथ के मतों का अनेक स्थलों पर बड़ी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया गया है। इनके अलङ्.कार मुक्तावली, अलङ्.कार प्रदीप, रसचन्द्रिका, कवीन्द्र कण्ठाभरण ये अन्य ग्रन्थ हैं।

तृतीय अध्याय

चित्र मीमांसा का महत्व एवं उसका मूल प्रतिपाद्य

वैदिक साहित्य में चित्र शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है, जहां इसका प्रसंगानुसार विविध अर्थ भी है। ऋग्वेद के अनुसार नानावर्ण युक्त, दर्शनीय एवं आलेख्य परक, अद्भुत, आश्चर्य विचित्र इत्यादि इसके अर्थ हैं। इसी प्रकार लौकिक साहित्य में मधुर, उद्वेगपर एवं आश्चर्य, अद्भुत इत्यादि अर्थ मिलता है। कोषगत अर्थ में चित्र शब्द प्रतिमूर्ति, आलेख्य, तिलक, चित्रक एवं चित्र गुप्त इत्यादि मिलता है।

काव्य शास्त्र में सर्व प्रथम आनन्द वर्धनाचार्य ने इसके विषय में लिखा है --

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्.गयस्यैवं व्यवस्थिते

काव्यं उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।

तत्र किञ्चित् शब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।। — ध्व० ३–४२, ४३

अर्थात् काव्य के दो भेद – ध्वनि और गुणीमूत व्यंग्य इन दोनो से भिन्न जो काव्य व्यंग्यार्थ की विवक्षा से सर्वथा शून्य हो उसे चित्र काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य में अन्तस्तत्व का अभाव रहता हैं। इसे शब्द चित्र काव्य और अर्थ चित्र काव्य दो रूपों में समझा जा सकता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य का स्वरूप निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।

अलङ्.कार निबन्धो यः सचित्रं विषयो मतः।।

रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यववती यदा।

तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः।।

चित्र काव्य का विषय वह अलङ्.कार निबन्ध है। जिसकी विश्रान्ति किसी भी प्रकार से रसभाव में नहीं होती है।

आचार्य दीक्षित जी ने चित्र शब्द को उसके अर्थ गौरव की दृष्टि से ही ग्रहण किया है – चित्र काव्य के पांच मूल तत्व हैं जिन पर विचार किया जाना अति आवश्यक है –

१– कल्पना

२– विचार

३– भावना

४– शैली या अलङ्.कार

५– तोष

१– <u>कल्पना तत्व –</u>

कल्पना ही कवि की अमोघ शक्ति है और किसी भी कवि कर्म में इसकी चरम सार्थकता है। इसी के आधार पर ही कवि अमूर्त को मूर्त रूप में और नीरस को सरस वातवारण प्रदान करने में सफल होता है। कल्पना तत्व के सहारे ही कवि भूत अथवा भविष्य की घटनाओं को वर्तमान घटना की तरह चित्र रूप में उपस्थित कर देता है। प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत की आवश्यकता चित्र काव्य में पड़ती है। वस्तुतः चतुर्दिक व्याप्त यथार्थ के बीच छिपी हुई निरन्तर कल्पना है, जहां मानव हृदय की उन्मुक्त अन्तरनुभूतियों का निवास हैं। वही कवि सफल होता है, जो अपनी कृतियों में इन्हीं सामान्य, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, मानवता की भाव भूमि का सृजन करता है, जो अपनी कल्पना तरंग को इतना ऊंचा उठा देता है कि सर्वसामान्य उसकी संवेदना, उसकी अनुभूति या मनोभावों को अपना मान लेता हैं। वही वस्तुतः सफलतम कवि, कथाकार या कथाशिल्पी और उपन्यासकार होता है। मुंशी प्रेमचन्द, गोस्वामी

तुलसीदास, कविकालिदास, इत्यादि इसी परम्परा के संवाहक रहे हैं। उनकी कल्पना शक्ति इतनी उर्वर रही है कि वे उसी के बल पर आज भी अमर हैं।

चित्र सृजन में कल्पना तत्व का दूसरा छोर परम्परा से सम्बन्धित है, क्योंकि प्रत्येक परम्परा के पास एक सुपरीक्षित और संरक्षित तथा सुसज्जित पद्धति होती है, किन्तु चित्र स्रष्टा के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह परम्परा से सम्बद्ध कुछ अच्छाइयों को जहां ग्रहण करता है वहीं उसमें आई हुई न्यूनताओं का परित्याग भी करता है। इसका मूलभूत कारण यह रहता है कि प्रत्येक परम्परा पुरातन विचारों, चिन्तन के नियमों एवं पुराने समाज के दर्पण का प्रतिविम्ब होता है। चित्रस्रष्टा के लिये यह अपरिहार्य है कि वह नवीन विधाओं, देश, काल और वातावरण की अत्याधुनिक आवश्यकताओं तथा जनसामान्य की आम रूचियों और प्रवृत्तियों का आंकलन अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा अपने काव्य में करें क्योंकि इसका पुरातन में सर्वथा अभाव रहता हैं। चित्र सृजन का ही यह परिणाम सृष्टि-हैं। चित्र सृजन की प्रकिया रूढ़िवादी, परम्परावादी और गतानुगतिकता वाली नहीं हैं यह उसके सृजन में सर्वथा बाधक हैं। चित्रसृजन की प्रकिया ऋणात्मक न होकर सकारात्मक हैं। निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक है, भावात्मक तथा निर्णयात्मक है। इसी प्रकार जो भी आलोचक एक पक्षीय होकर पुरानी परम्परा का एक मात्र अनुसरण करता है, वह समाज के प्रगतिशील विचारों का पक्षधर न होकर रूढ़िवादी हो जाता है, सार्वकालिक न होकर एकदेशीय हो जाता है। इसी को दृष्टिगत रखकर ही शायद महाकवि ने "मालविकाग्नि मित्रम्" में कहा –

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

न चापि काव्यं नवमित्यविद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।

मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः।।

सही आलोचक तो पुरातन एवं नवीन दोनो का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है। वह, सही मायने में दोनों की समीक्षा करता हैं। पुरातन की अच्छाइयों को ग्रहण करता है और बुराईयो का परित्याग करता है तथा नवीन देश, काल, वातावरण के कम मे ही अपने समीक्षाओं का सृजन करता हैं।

अतः चित्र सृष्टि के लिए विचारतत्व के पूर्व कल्पना का आश्रयण अत्यन्त आवश्यक है।

२. <u>विचार तत्वः–</u> विचार तत्व का चिन्तन की परम्परा मे अपना अद्वितीय स्थान है। इससे तात्पर्य चित्रकार की विशिष्ट चिन्तनधारा से है। इसके अभाव मे चित्रकाव्य स्थायी रह ही नही सकता। दर्शन इत्यादि की दुर्बोध चिन्तन धारा से परे चित्रकाव्य मे दुर्बोध को भी सुबोध, नीरस को भी सरस रूप मे चित्रित किया जा सकता हैं। जन सामान्य का सीधा सम्बन्ध इसी चिन्तन धारा से होता हैं। संगीतज्ञ को दिशा ज्ञान के निमित्त जो विविध वाद्य यन्त्रो मे मेरीनर्स कम्पास इत्यादि का हो सकता है। वही महत्व चित्र काव्य के लिए कवि के समक्ष उपयुक्त शब्द और अर्थ के संकलन को लेकर हो सकता है। चूंकि प्रत्येक चित्र सर्जक तत्कालीन देश, काल, वातावरण के अनुकूल नवीन युग का प्रस्तोता होता है, अतः उसे तत्कालीन देश, काल, वातावरण के अनुसार ही अपने काव्य का सृजन करना पड़ता हैं। यदि कोई भी कवि इसकी उपेक्षा करके अपने काव्य का सृजन करता है तो इसका स्पष्ट आशय यह है कि वह अपनी कृति को

अस्थायी, पंगु और पाण्डुर बनाने जा रहा है। इसीलिए "यथादृष्टिः तथा सृष्टिः" का सुष्ठु रूपेण परिपालन प्रत्येक चित्र स्रष्टा का मूल दायित्व है।

३. <u>भावना तत्व :—</u> कल्पना और विचार तत्व के अनन्तर भावनातत्व की प्रधानता सर्वविदित है। चित्र स्रष्टा की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति यहीं ही परिलक्षित होती है क्योंकि चित्रकाव्य का स्रष्टा वर्तमान के साथ – साथ आगत युग का भी स्वप्नद्रष्टा होता है। वह वर्तमान युग का वैतालिक तो है परन्तु इसके साथ ही साथ वह भविष्य का हरकारा भी हैं। भावनाओं का जब तक आस्फालन नहीं होगा तब तक आशा का आविर्भाव नही होगा और जब तक आशा का आविर्भाव नही होगा तब तक अतीत अभिज्ञ और वर्तमान सजग चित्रद्रष्टा आगत के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर ही नही सकता हैं। भावनाओं का सहारा लेकर ही वह आन्तरिक हो या वाह्य तिक्त यथार्थो को कुरेदता है और संभावित सत्यादर्शों की खोज करता है, उसके सहारे ऐसी अनुभूतियों का बोध कराता है, जिसके संस्पर्श से सत्य का सम्पूर्ण सन्दर्भ ही बदल जाता है।

कभी – कभी चित्र स्रष्टा कवि यूटोपियन भी कहा जाता हैं। वह प्लास्टिक 'सर्जन' की तरह जीर्ण – शीर्ण वास्तविकताओं का काया – कल्प करता है। इन्ही भावनाओं के आधार पर वह घोर निराशा मे भी आशा का मधुर संचार करता है।

इसी का सतत् विकासशील मनुष्य के लिए मधुर महत्त्व है। भावनाओं के आधार पर ही कवि धर्मरेखा का निबन्धन करता है जिससे अनुशासित होकर समग्र समाज की विकासमान प्रवृत्तियां आगे बढ़ती है। इसलिए कोई भी चित्र स्रष्टा वर्तमान को ही विधायक नहीं है बल्कि एक वाक् वर्चस्वी नेता की तरह है जो भविष्य के लिए एक घोषणा पत्र – मन्तव्य पत्र **(Menifesto)** भी प्रस्तुत करता है।

४. <u>शैली :—</u> इसका चित्र काव्य मे अपना अलग वैशिष्ट्य है। चित्र मे

काव्यात्मक संवेग महत्त्वहीन तब हो जाता है जब उसकी शैली या अलङ्कार को गौण महत्व दे दिया जाय। शैली और अलङ्कार के माध्यम से चित्र काव्य में ग्रथित अन्तर्वृत्तियों और रागवृत्तियों का उच्छृंखल निदर्शन नहीं अपितु यथायोग्य नियमन हो जाता है। नैतिकता को ही काव्य का निकष मान लेने पर सही चित्रांकन का मार्ग पूर्ण रूपेण अवरूद्ध हो जाता है। इसके लिए एक छोटा सा उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कोई भी नैतिक विचारक जो कि कर्ण के ऊपर लिखे गये काव्य पर विचार कर रहा है, कर्ण की कानीयता और युद्ध छल पर ही विचार करता रह जायेगा। जब तक कि कर्ण की यह दर्पोक्ति सामने नही आ जाती कि –

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरूषम्।।

अतः शैली और अलङ्कार को यदि प्राण कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

५. <u>तोष :–</u> यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व है। 'स्वान्तः सुखाय' का तत्तव बोध ही वक्ता एवं श्रोता को किसी कृति के अवगाहन हेतु प्रस्तुत करता हैं। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की सर्वाधिक चरितार्थता यहीं ही दृष्टिगोचर होती हैं।

चित्र काव्य का मूल उद्देश्य अलङ्कारपरक होने के कारण कभी – कभी कटु हो जाता है। किन्तू उसका वाग् विधान एवं कथानक सर्वथा रोचक और आकर्षक होता है, अतः अन्ततोगत्वा सुखानुभूति ही होती है। भारतीय अध्यात्म तत्व में भी आनन्द का परम महत्व है, इसी के कारण चित्र काव्य के प्रतीक विधान, अलङ्कार योजना इत्यादि का समन्वित् प्रभाव पाठकों के लिए अतिशय ग्राहय ही होता है, त्याज्य नहीं।

उपर्युक्त संकेतित तत्वों से यह स्पष्ट है कि जिस कवि की प्रतिभा,

सौन्दर्यानुभूति जितनी ही गहनतर, अतल स्पर्शिनी और सानुपातिक समवाय रूप होगी, उसकी चित्र सृष्टि उतनी ही हृदयहारिणी एवं मूल्यवान् होगी।

पाठक अथवा चित्रकार दोनो का ही चित्रकाव्य के साथ सापेक्षिक सम्बन्ध है। चित्र स्रष्टा कलाकार का जो उत्तर दायित्व चित्र सृष्टि मे है वही चित्र काव्य के मूल्यांकन मे मूल्यांकन कर्ता का भी हैं। किसी वस्तु या भाव के प्रति समग्र दृष्टि का नाम ही चित्र है।

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने कवित्व शक्ति हेतु तीन हेतुओं का वर्णन किया है–

शक्ति र्निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास – का०३

ग्रन्थकार ने (१) शक्ति (२) लोक व्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (३) काव्य की रचना शैली और उसके गुण – दोषों के समीक्षक विद्वज्जनों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास इन तीनों की समष्टि को काव्य निर्माण की योग्यता को प्राप्त करने का कारण माना है। मेरे विचार से स्रष्टा के लिए ये जितना जरूरी है उतना ही मूल्याकन कर्त्ता के लिए भी। अतः 'दृष्टि' ही सृष्टि है को समझने के लिए मूल्यांकन कर्त्ता के पास समुचित रस संवेदना का ज्ञान हो, काव्य वस्तु का अनुबन्ध सन्दर्भज्ञान अद्योपान्त होना चाहिए, अर्थ छवि को उद्घाटित करने का कौशल होना चाहिए साथ ही साथ मूल्यांकन कुशलता का भी होना आवश्यक है।

सारांश यह कि चित्र सृष्टि के लिए जो कुशलता, कार्य क्षमता, योग्यता चित्र स्रष्टा के लिए अपेक्षित है, वही मूल्यांकनकर्त्ता के लिए भी अपेक्षित है। इन दोनों का तुल्य योग होना अत्यन्त आवश्यक है।

गलितार्थ यह है कि चित्र काव्य के मूल्यांकन का मानदण्ड सर्वथा कालातीत, दृष्टिकोण निरपेक्ष और स्थितिशील (Static) नहीं होता हैं। वे ही कृतियां स्थायी एवं आगत भविष्य के लिए मंगलप्रद होती है जिनमे आने वाले युगसत्यो का मानव के मूलमनोभावों के रागात्मक स्तर पर सफल अंकन रहता है। उदाहरणार्थ– वाल्मीकि और तुलसी की शिवैषणा और लोकमंगल की भावना से आत – प्रोत अमर कृति कमशः रामायण और रामचरितमानस की यह गर्वोक्ति सम्पूज्य है और युगो – युगो तक सम्पूज्य रहेगी –

कीरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सबकर हित होई।।

राम चरित मानस

यही नहीं मुंशी प्रेमचन्द की चाहे जो भी कथा शिल्पी हो वह आज भी अमर और स्तुत्य इसलिए है कि उसमे आगत युगसत्यों का यथार्थ चित्रण सफलता पूर्वक किया है।

चित्र काव्य सर्वथा और सर्वदा सोद्देश्य होता है यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती है। चित्र काव्य की अवर काव्य के अतिरिक्त भी और कई आयाम हैं। इसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का है, ऐसा आधुनिक विवेचकों का मानना है। कभी – कभी बहिर्निष्ठ की अपेक्षा अन्तर्निष्ठ निगूढ़ता से अधिक रहता है। चित्र काव्य का मूल तत्व उपेक्षित तब रहता है जब आलोचक व्यावहारिक आलोचना के स्तर पर उतरते – उतरे अपने को कला पक्ष तक सीमित कर लेता है।

चित्र काव्य मे वह कलाकार सफल माना जाता है जो मात्र कोमल कल्पनाओ का पोषक मात्र न होकर शिव परक भावनाओं का भी सर्जक हो।

'राजशेखर' की काव्य मीमांसा की निम्नांकित पंक्ति :–

मा भैः शशाङ्कममसीधुनिनास्ति राहुः

रवे रोहिणी वसति कातर किं विभेषि।

प्रायो विदग्धवनिता नवसङ्गमेषु

पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्।।

की उपेक्षा कालिदासकी ये पंक्तियां :–

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।

स तद्‌दुकूलादविदूर मौलिर्बभौपतदङ्ग दयोत्तमाङ्गे।।

अधिक सशक्त और सहृदय हारिणी है, क्योकि इसमे शितेतरक्षति का उदग्र उद्‌घोष भी है।

कुछ आलोचक पण्डितराज जगन्नाथ आनन्दवर्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ जैसे आचार्य चित्र काव्य का सम्बन्ध आलङ्कारिक अनुभूति से जोड़ते हैं, किन्तु वास्तव में उनका सम्बन्ध सौन्दर्यात्मक अनुभूति से रहा है। वस्तुतः चित्र सृष्टि का सम्बन्ध 'अहम्' से न होकर 'इदम्' से और 'स्वान्तः' की अपेक्षा 'परान्तः' से अधिक है।

यह सत्य है कि प्रत्येक कवि चित्र स्रष्टा नहीं होता है 'द्वित्राः कवयः' कहकर इसकी ही आनन्दवर्धनाचार्य ने पुष्टि की है – अतः चित्रोद्‌भावनार्थ अधिक प्रातिभ अर्हता, साधन और संश्लेषण शक्ति की आवश्यकता है। चित्र सृष्टि एक ऐसी प्रकिया है जिसका अर्थ विश्लेषण से और इति संश्लेषण से सम्पृक्त है।

चित्र के मंजुल संस्पर्श को ही पाकर कोई काव्य श्रेण्य और वरेण्य हो जाता है और चित्र सरणियों का भी महत्व अधिक हैं क्योकि सत्प्रेरणाओ की निर्झरिणी से निःसृत जल कणों के ग्रहण से मनुष्य में शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने की उत्कट जीवट शक्ति जगती है। यही कारण है कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले मुमुक्षु

कवियों की इस लोक की वर्णना से परिप्लुत मरणकामी कविताओं की तुलना में ऋषियों की इस वाणी कि –

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः"

अर्थात इस लोक मे कर्म करते हुए सैकड़ों वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए, से मिलती जुलती कियाशील जिजीविषा अत्यधिक प्रभावोत्पादक है।
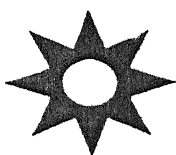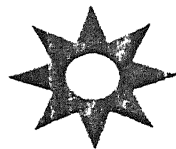
चतुर्थ अध्याय

मानव मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण ही काव्य को आज से नहीं, अपितु अनादि काल से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ में सर्जनात्मक साहित्य (Creative literature) के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता रहा है, किन्तु आज आधुनिक युग में वह अपने पथ से हट सा गया है। इस युग में छन्दवद्ध रचना को ही काव्य कहा गया है।

काव्यलक्षण से काव्यशास्त्र का प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस विभिन्न मतावलम्बी एवं परम्पराओं वाले संसार में काव्य का लक्षण एवं महत्व विभिन्न विद्वानों द्वारा समय–समय पर प्रतिपादित किया है। अतः काव्य स्वरूप निरूपण के प्रसंग में सर्वप्रथम इस पर एक विहंगावलोकन अति आवश्यक है।

सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।[1] वक्तव्य विषय का सरस रीति से प्रतिपादन करने वाला संक्षिप्त पद समूह रूप वाक्य ही काव्य है। वह पदावली गुणालङ्.कारयुक्त होनी चाहिये न कि उससे रहित।[2] यद्यपि अग्नि पुराण का समय सुनिश्चित नहीं है, किन्तु काव्य स्वरूप निरूपण प्रसङ्.ग में यह मत दृढ़ता प्रदान

१– 'संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'

अग्निपुराण – ३३७/७

२– काव्यं स्फुटदलङ्.कारगुणवद्दोष वर्जितम्।

यो निर्वेदश्चं लोकस्य सिद्धमन्नादयोर्जितम्।।

अग्निपुराण – ३३७/८

करता है।[1]

संस्कृत साहित्याकाश में 'भीष्मपितामह' की संज्ञा से विभूषित 'भामह' का काव्यलक्षण अतिशय प्राचीन है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है।[2] यह लक्षण प्रचीनतम होने के साथ–साथ संक्षिप्त भी है। वे सहभाव या 'सहितौ' का क्या अर्थ लेते हैं। यह स्पष्ट नहीं है। अपनी 'काव्य मीमांसा' में राजशोखर ने सहित शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है।[3] अर्थात् शब्द और अर्थ का युगपत् भाव ही 'काव्य' है। यथावत् से तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ इन दोनो का समान मूल्य या समकक्षता से है। कहने का आशय यह है कि शब्द को अर्थ के अनुरूप या अर्थ को शब्द के अनुरूप होना चाहिये यही 'सहितौ' पद से लक्षणकार का आशय है। साहित्य इसी अर्थ और शब्द का सहभाव है।

भामह के बाद दण्डी का स्थान आता है। इन्होंने काव्यादर्श, नामक ग्रन्थ की रचना की। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।[4] अर्थात प्रजाजनों

१– संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४५ – ४७

परिच्छेद पुराण प्रकरणम्

२– "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यम च तद् द्विधा

काव्यालं० – १/१६ कारि०।

३– 'शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

काव्य मीमांसा.– राज शेखर

४– 'अतः प्रजां व्युत्तपत्तिमभिसन्धाय सूरयः।

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः कियाविधिम्।।

तै शरीरं काव्यायानामलङ्.काराश्च दर्शिताः।।

काव्यादर्श

की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त वाचां काव्यवाणी के कियाविधिम् – रचना के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलड्.कारों का वर्णन किया है। यहां पर "तै शरीरं काव्यांनामलड्.काराश्च दर्शिताः" से भामह की ओर ही स्पष्ट सङ्केत है। भामह के 'सहितौ' पद की अस्पष्ट व्याख्या को काव्यादर्शकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।[1] इष्ट अर्थात् मनोरम् हृदयाहलादक अर्थ से युक्त पदावली – शब्द समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर काव्य शरीर का निर्माण करते हैं, किन्तु इसे काव्यादर्शकार ने या भामह ने दोनों ने ही काव्य की आत्मा पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

दण्डी के बाद वामन आते हैं। वामन ने काव्य शरीर की उतनी चिन्ता नहीं की जितना काव्य के आत्म तत्व का मंथन किया। इन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा कहा[2] काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अलड्.कारों को काव्य की ग्राहयता और उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।[3] अब प्रश्न यह उठता है कि रीति क्या है तो इन्होंने इसे स्पष्ट करते हुये कहा कि विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। पदरचना की विशिष्टता का तात्पर्य गुणात्मकता से है। ओज माधुर्य आदि प्रकृतिवाली पदरचना को ही ये विशिष्ट पदरचना मानते हैं। इन्होंने गुण और अलड्.कार से अलड्.कृत पदरचना

१– 'शरीरं तावदिष्टार्थ – व्यवाच्छिन्ना पदावली'

२– रीतिरात्मा काव्यस्य

–काव्यालड्.कार सूत्र – १, २, ६

३– काव्य ग्राह्यमलड्.कारात्, सौन्दर्यमलड्.कारः।

को (शब्द और अर्थ को) काव्य कहा है। पूर्व के प्रचलित शब्द और अर्थ मात्र को काव्य पदवी से अलङ्.कृत नहीं कहा। अतः अग्राहय कहा है।

कालान्तर में आने वाले रूद्रट ने लक्ष्य और लक्षण निर्माण में अपनी अखण्ड मौलिकता का परिचय दिया और रस की महत्ता को विशेष रूप से स्वीकार किया।[1] वही इसके पूर्व वक्रोक्ति जीवितकार ने वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम् कहकर कवि प्रतिभा से प्रदीप्त, सहभाव से व्यवस्थित, वक्रोक्ति गर्भित काव्य ही सहृदयजनों को आस्वाद्य होता हैं। बन्ध में व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है, अर्थात् इनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ की तुलना में उक्त वैचित्र्य काव्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण है।[2]

वक्रोक्ति जीवितकार ने अपने इस लक्षण में गागर में सागर भरने का काम किया है। अभी तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा जो भी लक्षण लक्षित किये गये थे, उन सबका अन्तर्भाव आचार्य कुन्तक ने इस प्रकार कर दिया है –"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" से आचार्य भामह, तद्विदह्लादकारिणी वन्धे व्यवस्थितौ से दण्डी की इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली, तथा वामन की रीति, 'वक्रकवि व्यापारशालिनि से ध्वन्यालोककार, आचार्य आनन्दवर्धन के व्यञ्जना व्यापार प्रधान ध्वनि का तथा काव्यमीमांसाकार के रस दोनों का अन्तर्भाव करके थोड़े में ही बहुत कुछ कहने का स्तुत्य प्रयास किया है। इतना सब कुछ करते हुये भी अतृप्त कवि 'साहितौ' पद के स्पष्टीकरण का प्रयास भी करते हैं, क्योंकि इनके पूर्ववर्ती

१– "तस्मात्तत्कर्त्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्भुक्तम् "

२– **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।**

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहलाद कारिणी।।

"वक्रोक्ति जीवित' १–७

आचार्यों द्वारा 'सहितौ' पद अस्पष्ट ही रह गया था अतएव वे कहते हैं।[1]

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उठाई गयी आपत्ति कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा साथ–साथ ही स्फुरित होते हैं, फिर 'सहितौ' कहकर आप कौन सी अपूर्व स्थिति दिखलाना चाहते हैं ? इसी का उत्तर देते हुये कुन्तकाचार्य ने कहा कि अनयोः (शब्दार्थयोः) शब्द और अर्थ के साहित्य का तात्पर्य काव्य सौन्दर्य के लिये न्यूनत्व या आधिक्य से रहित मनोहारी अवस्था है। साहित्य उसी शब्द और अर्थ के सहभाव का नाम है।

साहित्य शास्त्र के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में जो स्थिति वामन की रीति सिद्धान्त के लिये, आनन्दवर्धन की ध्वनि सिद्धान्त हेतु और आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्थापक के रूप में है वही स्थिति औचित्य सिद्धान्त के लिये आचार्य क्षेमेन्द्र की है। इन्होंने भी अपनी तरह से काव्य के लक्षण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे औचित्य को ही काव्य का मूलतत्व मानते हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ में वे लिखते हैं –

काव्यस्यालमलङ्.कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापिन दृश्यते।।

१– "शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किम् पूर्वं विधीयते।।
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यव्यस्थितिः।।" वक्रोक्ति जीवित– १/१६–१७

अलंङ्.कारास्त्वलङ्.काराः गुणा एव गुणाः सदा।

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

काव्य के उज्ज्वल नक्षत्रों में वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोपरि एवं विद्वद् समादृत भी है। इन्होंने भी काव्य के स्वरूप के निरूपण के प्रसङ्.ग में अपनी विलक्षण मेधा का परिचय दिया है – इन का काव्य लक्षण इस प्रकार है –

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्.कृती पुनः क्वापि"।

आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य कहा है, ये दोनों मिलकर ही काव्य पद वाच्य होते हैं, अलग–अलग नहीं। वे शब्द और अर्थ होने कैसे चाहिये इसका उत्तर आचार्य देते हुये कहते हैं कि वे शब्द और अर्थ 'अदोषौ' दोष रहित, 'सगुणौ' अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों से युक्त हों और 'अनलङ्.कृती पुनः क्वापि' का तात्पर्य यह है कि वे शब्द और अर्थ साधारणतः अलङ्.कार सहित होने चाहिये किन्तु जहां कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहां अलङ्.कार न होने पर भी कोई बात नहीं।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ में मम्मटाचार्य के इस काव्य लक्षण का बलपूर्वक खण्डन किया है, किन्तु इस बात से आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ दोनों ही सहमत हैं कि साधारण दोषों के होते हुये भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे कीड़ों से खाया हुआ प्रबाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है, उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है, वहां दोष के होते हुये

भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[1]

काव्य प्रकाशकार के इस लक्षण पर आपत्ति न केवल विश्वनाथ ने अपितु रसगङ्.गाधर कार आचार्य जगन्नाथ ने भी किया, किन्तु इनकी आलोचना अलग ही है, जहां विश्वनाथ ने विशेषण भाग का खण्डन किया, विशेष्य भाग पर कुछ भी नहीं, कहा, वहीं पण्डित राज ने विशेष्य भाग की आलोचना तो की है किन्तु विशेषण भाग को छुआ तक नहीं। 'शब्दार्थौ' पद पर पण्डितराजजगन्नाथ को आपत्ति यह है कि काव्यत्व न तो शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में रहता है और न तो व्यष्टि में, अपितु काव्यत्व मात्र शब्द में रता है। इसलिये काव्यत्व न तो शब्द तथा अर्थ में व्यासज्यवृत्ति से और न प्रत्येक पर्याप्त दृष्टि से ही होता है। काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है। केवल शब्द निष्ठधर्म है।[2] पण्डितराज ने इसलिये काव्य का लक्षण करते हुये लिखा है– रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।[3]

१– "कीटानुविद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

२– यत्तु प्राञ्चः (काव्य प्रकाशकारादयः) —— शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः, तत्र विचार्यते
तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।।

रसगङ्.गाधर, पृष्ठ – ५

३– 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

रसगङ्.गाधर, पृष्ठ – ४

नागेश भट्ट ने पण्डितराज की आलोचना 'नोचिता' कहकर दिया है। न केवल नागेश अपितु अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य माना है। केवल पण्डितराजजगन्नाथ ही इसके अपवाद हैं।

कतिपय आचार्यों के इस सम्बन्ध में निम्न वचन उद्धृत किये जा सकते हैं–

१– "गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ" – विद्यानाथ

२– शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् विधा – भामह

३– शब्दार्थौ काव्यम् – रूद्रट

४– अदोषौ सगुणौं सालङ्कारौं च शब्दार्थौ काव्यम् – हेमचन्द्र

५– काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयो वर्तते – वामन

गलितार्थ यह है कि शब्द और अर्थ दोनो में ही काव्यत्व हैं। यही पक्ष बहुजन समादृत है और यही मान्य है। पण्डितराज की आलोचना युक्ति संङ्गत नहीं है।

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्द वर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मामाना। अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ मे उन्होने यह बात उठाई है कि पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा भी अलिखित परम्परा के रूप में भी सतत व्यवहृत होने से यही पक्ष मान्य है।[1]

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व –

स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्वन्यालोक १ –१

पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा रूपित काव्य शरीर की पृष्ठभूमि के रूप मे काव्य पुरूष की कल्पना करते हुए आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा मे इसे स्पष्ट करते हुए केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्व उनके ही समान भाषा पर अधिकार रखने वाले आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में रस को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए लिखा है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या काव्य में रस परिपाक अनिवार्य हैं या नही। यदि इसका उत्तर हां मे दिया जाय तो दूसरा अर्थ यह हुआ कि ऐसी स्थिति काव्य मे सर्वत्र दुर्लभ ही नहीं असंभव है। कहीं–कहीं काव्य मे भाव उद्‌दीप्त होकर ही रह जाते हैं और ये उद्‌दीप्त भाववाली रचनायें तो किसी भी दशा मे इस काव्य की कोटि मे नही आ पायेंगी। अतः यदि इसकी अपेक्षा अनुभूति सौन्दर्य पर बल दिया जाय तो वह अधिक, समर्थ और ठोस हो सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' मे काव्य के स्वरूप को इस तरह परिभाषित किया है ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' अर्थात्

---

१. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुरं, ओजस्वी चासि। उक्तिपणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ.कुर्वन्ति।

काव्य मीमांसा १३ – १४

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इस परिभाषा मे 'रमणीय' शब्द अधिक ग्राह्य है। इससे ध्वनि, भाव, अलङ्कार इत्यादि काव्य की परिधि मे आते हैं। पण्डितराज ने मात्र 'शब्द' का प्रयोग किया है अर्थात वे शब्द को ही काव्य मानते हैं न केवल अर्थ या शब्द और अर्थ दोनो को। उवनके अनुसार काव्य मूलतः शब्दरूप (उक्ति रूप) है, अर्थ तो शब्द का विशेषण है।

इनकी प्रबुद्ध विलक्षणता और पाण्डित्य पूर्ण शैली से प्रभावित होकर 'सुशील कुमार डे' ने पण्डितराज की प्रतिभा प्रशस्ति में लिखा है।[1] – इन्होने प्राचीन और नवीन में सामंजस्य स्थापित करने के साथ – साथ प्राचीनों के सिद्वान्तों में अपनी निपुणता प्रदर्शित की है। यहां तक कि मम्मट और रूय्यक के सम्प्रदाय ने इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है।

इसी सन्दर्भ मे चित्र मीमांसाकार अप्पय दीक्षित की कृतियों मे काव्य लक्षण ही नहीं है, यह इस नियम के अपवाद है कि संस्कृत साहित्य मे काव्य लक्षण से ही काव्य का आरम्भ होता है। यद्यपि चित्रमीमांसा की सुधा व्याख्या में एक काव्य लक्षण निम्नवत् है :–[2]

---

१. "He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of thought. Alongwith some other important writers of the new school, Jagannath makes a reaction in this respect and the school of Mammat and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage." History of Sanskrit Poetics - S.K. Dey.

२. "काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेरसाधारणं कर्म" – चित्र मीमांसा पृ० ११

भले ही इस काव्य लक्षण के साथ – साथ काव्यलक्षणकार का नाम सुधाकार ने नही दिया है, किन्तु गहन चिन्तन के उपरान्त यह सिद्ध होता है कि इस काव्य लक्षण की संगति दीक्षित की काव्य शास्त्रीय मान्यताओं से बैठ जाती हैं। चित्र मीमांसा मे ऐसे ही अलंकार प्रधान वर्णनात्मक अर्थ चित्र काव्य की व्याख्या की गयी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य को दोष रहित, रसान्वित, कलित और रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में सक्षम होना चाहिए।

दुर्भाग्य से संस्कृत साहित्य मे कालान्तर मे इस परम्परा का प्रस्फुटन बन्द सा हो गया और इसका स्थान हिन्दी समीक्षकों ने ले लिया। इनमे आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, हरिऔध और पाश्चात्य समीक्षकों मे ड्राइडन के नाम उल्लेखनीय है। प्रसंगानुसार इस पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित नही होगा।

"हृदय की मुक्तावस्था (रस दशा)" के लिए मनुष्य की वाणी जो विधान करती आई है वही काव्य है।"

——आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

" कविता मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम हैं, जो वस्तुओ के उन आभ्यन्तर रूपो को देखती है और दर्शाती है जो रूप विज्ञान मे देखे नही जा सकते है। "

—— हरिऔध

ड्राइडन ने भावात्मक और छन्दोबद्ध विशेषण देकर काव्य के स्वरूप पर कोई प्रकाश नही डाला है, वहीं अन्य साहित्यकारों में मिल्टन ने काव्य मे प्रत्यक्षता और रागात्मकता को आवश्यक माना है। अंग्रेजी साहित्य में प्रकृति कवि के रूप में विख्यात वर्ड्सवर्थ की पंक्तियां बहुत कुछ काव्य स्वरूप को रेखांकित करती हैं :–

"poetry is the spontaneous overflows of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility."

अतः पूर्व एवं पाश्चात्य की विवेचना के उपरान्त हम इस तथ्य पर पहुँचते है कि काव्य रसात्मक होता है जिसमे नीरस पक्ष को भी सरसरूप में अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

मानव के सम्यक विकास मे काव्य की सृष्टि आवश्यक होती है। जिसमे जीवन के मनोरम सत्य का उद्घाटन हो। वही काव्य सार्थक होता है, वस्तुतः जिसमें लोक कल्याण की मंगलमय भावना हो, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की उदात्त भावना हो। यहां स्वान्त सुखाय की तृप्ति होती और सहृदय जनों को आत्मानन्द सहोदर की अनुभूति होती हैं। यहीं लोक को यह शिक्षा मिलती है कि "रामवत् व्यवहर्त्तव्यम् न तू रावणादिवत्"। यही "कान्तासम्मित उपदेश" उपदेश ही सार्थक काव्य की श्रेणी में स्थान पाता है।

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने हैं :–

१. ध्वनि काव्य

२. गुणीभूत व्यंग्य काव्य

३. चित्र काव्य।

काव्य शास्त्रीय परम्परा में ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम काव्य तथा चित्र काव्य को अधम श्रेणी मे रखा गया है।

काव्य भेदों के सम्बन्धों मे भी आचार्यो में मतभेद हैं -- विश्वनाथ आचार्य ने साहित्य दर्पण मे काव्य के दो ही भेद माने हैं – ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य। रस सम्प्रदायवादी आचार्यो ने दो ही भेदों को स्वीकृत किया। रस शून्य होने के कारण तृतीय (अधम) भेद में उन्हें काव्यत्व अभीष्ट नहीं हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के तीन भेद न मानकर कुल चार भेद माने है – तच्चोत्तमोत्तमयोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा – अर्थात् उत्तमोत्तम, उत्तम , मध्यम तथा अधम।

<u>प्रथम भेद –</u> उत्तमोत्तम काव्य – जिस काव्य में शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) अप्रधान रहते हुए किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करें तो वह काव्य उत्मोत्तम काव्य कहलाता है।[1]

<u>द्वितीय भेद –</u> उत्तम काव्य – अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्यार्थ अप्रधान रहते हुए ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय श्रेणी का काव्य होता है।[2]

---

१. "शब्दार्थौ यत्रगुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थंमिव्यक्तस्तदाद्यम्।।"

रस गंगाधर -- पृ० ६

२. "यत्रव्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणम्।"

रस गंगाधर – पृ०१६

तृतीय भेद – मध्यम काव्य – 'यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्ततृतीयम्"।

अर्थात् जहां व्यंग्यार्थ से होने वाला चमत्कार का और वाच्य अर्थ से होने वाले चमत्कार का अधिकरण असमान हो वहां काव्य का तृतीय भेद होता है।

चतुर्थ भेद – काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य – अर्थात् जहां अर्थकृत चमत्कार से शब्दकृत चमत्कार उपस्कृत होता हो वहां अधम काव्य होता हैं।

इन सबसे परे हटकर अप्पय दीक्षित ने काव्य के भेद तीन ही माने हैं :–

ध्वनि काव्य – जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान हो जैसे –

"निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्ट रागोऽधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनी दूति वान्धवजनस्याज्ञात् पीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

चित्र मीमांसा – २६

तुम्हारे स्तनों के किनारों से चन्दन वह गया, अधरों मे लालिमा नहीं रही, आंखो का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती, तू झूठ बोल रही हैं। मेरी व्यथा को तू नहीं समझती। तू यहां से नहाने गई थी, उस नीच को मेरा सन्देश देने नहीं गयी।

पद्य में जो 'अधम्' पद का प्रयोग हुआ है उससे नायक का दूती के साथ सम्भोग रूप कृत्य व्यञ्जित हो रहा हैं। अतः यहां ध्वनि काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आलङ्कारिकों से विरोध और उपपत्ति विरोध

के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अप्पय दीक्षित की व्याख्या न तो प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुरूप है और न ही अभीष्ट सिद्धि के अनुकूल ही, अतः अमान्य हैं।

प्राचीन आलङ्कारिकों से विरोध का तात्पर्य यह है कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने "भ्रम धार्मिक" – इस पद्य मे व्कजनों का साधारण्य प्रतिपादित किया हैं। वहीं काव्य प्रकाशकार ने काव्य प्रकाश के फचम उल्लास के अन्त मे कहर है कि सम्भोग के व्कजना का हेतु जो चन्दनच्यवनादि हुआ है वह अन्य कारणों से भी तो हो सकता हैं। सम्भोग से ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है जैसा कि दूती ने बावली स्नान को बताया है, ऐसा भी हो सकता है। अत चन्दनंच्यवनादि हेतु अनैकान्तिक है।

उपपत्ति विरोध से आशय यह है कि (१)किसी व्यंग्यार्थ के प्रति व्यंजको का असाधारण होना आवश्यक नही हैं। (२) जो अर्थ व्यंजना लभ्य होना चाहिए, वह लक्षणालभ्य हो जायेगा जैसे – "चन्दनच्युत" को यदि सम्भोगजन्य मान ले तो "वापीं स्नातुमितो गतासि' यहां स्नान के साथ चन्दनच्युत का अर्थ वाधित होने से विरोधिलक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही वापीं स्नातुमितोगतासि अर्थात् तदन्तिकमिति – यह व्यंजना की प्रवृत्ति नही होगी और व्यंग्यार्थ की उपपत्ति भी नही हो सकेगी। (३) व्यंजना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नही हो सकेगा। वाच्यार्थ की सिद्धि संभोग रूप व्यंग्यार्थ का बोध होने पर ही होगी और उस स्थिति में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग बन जाने से गुणीभूत व्यंग्य मे समाहित हो जायेगा।

किन्तु दीक्षित का मत ही मान्य है, जगन्नाथ का नहीं। कोई भी काव्य गुणीभूत व्यंग्य का विषय तभी बनता है जब उसमें व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ मे ही रस की विश्रान्ति हो। किन्तु जहां व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का बोध कराता है तब वह ध्वनिकाव्य का विषय हो जाता है। प्रस्तुत पद्य मे दूती और नायक के बीच सम्भोग का ही द्योतक 'अधम' पद नहीं है, अपितु इससे नायिका का दूती और नायक के प्रति रोष भी ध्वनित हो रहा हैं, अतः यहां ध्वनिकाव्य है।

<u>गुणीभूत व्यंग्य :–</u> जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो।[1] आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण इस तरह किया है :–

"अतादृशिगुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्"

दीक्षित जी ने गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण इस प्रकार दिया है :–

"प्रहर विरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा।
किंमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
अति दिनशत प्राप्य देशं प्रियस्य यिंयासतो।
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः।।"

"एक पहर उपरान्त या मध्यान्ह में या अपराह्न में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय! तुम लौट आओगे न? इस तरह कहती हुयी प्रिया जहां पहुँचने मे सौ दिन लग जाते हैं उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आंसू बहाकर

---

१. "यत्र व्यंग्यं वाच्यानतिशायि तद् गुणीभूतव्यंग्यम्।"

चित्र मीमांसा – पृ० ३२

रोक रही है।"

यहां नायिका अपने मार्मिक वचनो से आंसू बहा – बहाकर प्रिय गमन को रोक रही हैं यह तो वाच्यार्थ है, किन्तु यदि तुम पूरा दिन बीत जाने पर भी नहीं आओगे तो मेरे प्राण नही रहेंगे यह व्यंग्यार्थ है जो कि वाच्यार्थ का उपस्कारक है, अतः यहां गुणीभूत व्यंग्य है।

पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि अर्थ से ही अश्रु सहित आलाप ही प्रिय गमन निवावरण में समर्थ हैं। अतः अर्थ की संगति हो रही है, इस प्रकार जब वाच्यार्थ स्वयं सिद्ध है तो व्यंग्यार्थ को उसका अंग कहकर इसे गुणीभूत व्यंग्य मानना अनुचित है।

दूसरा तर्क पण्डितराज ने यह दिया कि यदि व्यंग्यार्थ (ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि) को अप्रधान मान भी लिया जाय तो उसके अतिरिक्त नायकादि के जो आलम्बन विभाव, अश्रु आदि के अनुभाव और चिन्ता, आवेग आदि के संयोग से विप्रलम्भ श्रृंगार ध्वनित हो रहा है। वह इसे उत्तम काव्य की श्रेणी में ला रहा है, अतः यह उत्तम काव्य का उदाहरण है।

किन्तु विप्रलम्भ श्रृंगार तब होता है जब विरह ध्वनित हो जाय। यहां तो न विरह घटित हुआ है और न उसे घटित ही होना है, जैसा कि परिहरति 'पद' से स्पष्ट है। अतः यहां विप्रलम्भ श्रृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का विषय नहीं हो सकता है। यह गुणीभूत व्यंग्य ही है।

चित्र काव्य :– तीसरे प्रकार का काव्य चित्र काव्य है। इसका लक्षण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार दिया है –

व्यंग्य से रहित शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र दो प्रकार का अधम काव्य है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा कि जहां अर्थकृत चमत्कार से शब्द कृत चमत्कार उपष्कृत होता हो वहां अधम काव्य होता है।[2]

अप्पय दीक्षित जी ने चित्र काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है – जहां व्यंग्यरहित अथवा ईषत् व्यंग्य युक्त होते हुए भी वाच्यार्थ सुन्दर हो।[3]

ध्वनिकाव्य मे व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य मे व्यंग्यार्थ गौण होता है, चित्र काव्य में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह स्फुट नही होता है। यहां व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलंकार द्वारा होती है।

वस्तुतः समीक्षोपरान्त निष्कर्ष यहीं निकलता है जो कि मुझे भी मान्य है कि काव्य के तीन भेद जो आचार्य मम्मट और दीक्षित ने बतलाये हैं वे ही तर्क संगत हैं। जगन्नाथाचार्य कृत काव्य के चतुर्धा भेद वस्तुतः इन्हीं तीन में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं,

---

१. "शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यंत्ववरं स्मृतम्"

काव्य प्रकाश १–४–५

२. यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः तदधमं चतुर्थम्।

रस गंगाधर – १६

३. " यदव्यंग्यमपि चारू तच्चित्रम्"

चित्र मीमांसा – ३५

अतः तीन ही भेद उचित हैं। जगन्नाथ द्वारा उत्तमोत्तम एवं उत्तम ये दो काव्य के भेद वस्तुतः उत्तम काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। अप्पयदीक्षित का अनेक स्थलों पर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन अनुचित है। सहृदयता से हटकर नैयायिकता को प्रधानता देकर इनके द्वारा अप्पय दीक्षित कि की गयी आलोचना तर्क की करौटी पर न्यायोचित नहीं है।

अप्पयदीक्षित ने चित्र काव्य के तीन भेद माने हैं – शब्द चित्र, अर्थ चित्र और उभय चित्र। शब्द चित्र में शब्दालंकार, अर्थ चित्र में अर्थालंकार और उभयचित्र मे शब्दार्थालंकार होते हैं। इन तीनों मे शब्दार्थ व्यंग्य नहीं होता है और यदि होता है तो वह अलंकार गोचर ही होता है। इन तीनों को चित्र मीमांसा मे अप्पय दीक्षित ने इस तरह से व्यक्त किया है –

शब्द चित्र – जहां शब्दालंकार प्रधान हो वहां, शब्दचित्र होता है।[1] जैसे –

नवपलाशपलाशवनंपुरः

स्फुटपरागपरागतपंकजम

मृदु लतान्तलतान्तमलोकयत्

स स सुरभिं सुरभिं सुमनो भरैः।।[2]

---

१. "शब्दविषयकगुणालंकारचमत्कृतिविशेषवत्वम्"

चित्र मीमांसा पृ० ३५

२. शिशुपाल वधम् – ६–२

श्रीकृष्ण ने कुसुम सौरभ से सुरभित वसन्त ऋतु को देखा जब पलाश के पौधों पर पत्तियां उग आयी थी, कमलों के भीतर पराग भर गया था और (धूप में) कोमल पत्ते मुरझा गये थे।

यहां यमक और वृत्त्यनुप्रास दोनो ही शब्दालंकार काव्य चमत्कृति के आधायक है।

दीक्षित जी ने शब्द चित्र की चित्र मीमांसा में कोई मीमांसा नही की है, इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यो की तरह में भी कोई महत्त्व शब्द चित्र को नही देते है।

अर्थ चित्र – जहां अर्थालंकार प्रधान हो।[1] उदाहरण के रूप में उत्प्रेक्षालंकार का यह प्रयोग काव्य मे वैचित्र्य उत्पन्न कर रहा है –

स छिन्नमूलः क्षतजेनरेणु

स्तस्योपरिष्टात्पनावधूतः।

अलंकारशेषस्य हुताशनस्य।

पूर्वोत्थितो धूमइवावभाषे।।

यहां रक्त रञ्जित् भूतल की ज्वलन्त अलंकार के साथ तुलना भी की गयी है। यहां उत्प्रेक्षालंकार से काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

१– "अर्थोपयोगिगुणालङ्कास्वचमत्कारवत्वम्"

चित्रमीमांसा – ३५

उभयचित्र– जहां शब्दालड्.कार और अर्थालड्.कार दोनों प्रधान हों[1] जैसे –

वराहः कल्याणं वितरतु सवः कल्प विरमे

विनिर्धुन्वन्नौदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत्।

खुरा धातत्रुट्यत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ–

च्छिलाकोटिस्फोट स्फुट घटित मंड्.गल्य निबहः

चित्रमीमांसा – ३७

यह वृत्त्यनुप्रास शब्दालड्.कार है और रूपक अर्थालड्.कार है, दोनो अलड्.कार चमत्कार के आधायक हैं इसीलिये दीक्षित ने इसे उभय चित्र कहा है।

वागदेवतावतार मम्मट ने केवल शब्द चित्र और अर्थचित्र भेद को ही स्वीकार किया है। व्यड्.ग्यार्थ से हीन होने के कारण चित्र काव्य को अधम कहा है। विश्वनाथ चित्र काव्य को मानते ही नहीं[2] इन्होंने व्यड्.ग्यत्व की हीनता की स्थिति में काव्यत्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में व्यड्.ग्य न होने पर गुण और अलड्.कार भी व्यर्थ हो जावेंगे। अतः काव्य शास्त्र में विश्वनाथ के इस चित्र काव्य विरोधी विचार को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। वहीं अन्यों ने यथा ध्वनिवादी आचार्यों में प्रमुख ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन तथा पण्डितराजजगन्नाथ आदि ने व्यड्.ग्य के अभाव में भी अलड्.कार घटित चित्र काव्य को मान्यता दी है। इनके मत से व्यड्.ग्य क प्रधान

१– "उभयविषयकगुणालड्.कारचमत्कृतिमत्वम्"

चित्रमीमांसा – ३५

२– साहित्यदर्पण ४–१५५

होने पर काव्य ध्वनि काव्य और गुणीभूत हो जाने पर गुणीभूत काव्य और व्यड्.ग्य के अभाव में अलड्.कार प्रधान काव्य चित्र काव्य की कोटि में माना जाता है।[1]

चित्रमीमांसा मूल रूप से एक आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रन्थ है। अपने पूर्व कालिक अलड्.कारिकों में वस्तुतः जिस यथार्थ विमर्श की आवश्यकता थी इसे उन्होंने बहुत हद तक पूरा किया। ये संग्राहक होने के साथ—साथ प्रवीण विवेचक थे। दीक्षित जी ने वस्तुतः चित्र सम्बन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ़ एवं प्रान्जल रूप में प्रस्तुत किया।

ये स्पष्ट अभिव्यक्ति वाले आचार्य तथा अलड्.कार का कैसा प्रयोग हो इस तरफ उतना चिन्तित नहीं हैं जितना कि उसके प्रतिपाद्य विषय की ओर इनके विषय और विषय व्यन्जना में (manner) में ऐसी असमानता परिलक्षित होती है जिसके कारण पण्डितराजजगन्नाथ को टीका – टिप्पणी करने का अवसर सुलभ हुआ।

चित्र काव्य में रसादि तत्व का अभाव रहता है। साथ ही साथ व्यंग्यार्थ की प्रकाशन शक्ति से भी 'वह शून्य' रहता है, केवल शब्द और अर्थ की चमत्कृति से ही काव्य को चित्रित किया जाता है।[2]

१— "प्रधानगुणभावाभ्यां व्यड्.ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।

उभे काव्ये तन्दयद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।"

आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक ३ – ६१.

२— 'ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यड्.ग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्ति शून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणौपनिबद्ध मालेख्य प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।।"

"आचार्य आनन्दवर्धन – १

इस तरह का काव्य मात्र काव्यानुकरण है, न कि काव्य – "न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकरोह्यसौ" इन्होंने चित्र काव्य को निम्न रूप में चित्रित किया –

"रस भावादि विषय विवक्षाविरहे सति।
अलङ्.कार निबन्धो यः स चित्रविषयोमतः।।
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदानास्त्येव तत्काव्यं ध्वेनेर्यत्तु न गोचरः ।।

– ध्वन्यालोक

आनन्दवर्धन ने तो चित्र काव्य को रसात्मकता का अभाव होने से केवल वाग्विकल्प मात्र माना है।[1]

दीक्षित जी ने प्रवीण विवेचक के रूप में चित्रमीमांसा में १२ अलङ्.कारों की गहन समीक्षा की जिसका पण्डितराज ने खण्डन किया है। ये अलङ्.कार निम्नवत् है।

१– उपमा

२– उपमेयोपमा

३ अनन्वय

४– स्मरण

५– रूपक

१– "एतत्तु चित्रं कवीनां विश्रृङ्.खल गिरां रसादि तात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य प्रवृत्ति दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्।।"

ध्वन्यालोक लोचन – २

६– परिणाम

७– ससंदेह

८– भ्रान्तिमान

९– उल्लेख

१० अपह्नुति

११– उत्प्रेक्षा

१२– अतिशयोक्ति

कालान्तर में हिन्दी साहित्य के ऊपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। कहीं–कहीं तो इससे प्रभावित होकर इसके लक्षण एवं उदाहरण ज्यों का त्यों ले लिये गये हैं, अतः हम कह सकते हैं कि दीक्षित जी अपनी इस कृति के कारण आज भी जी जीवित हैं। हिन्दी साहित्य में मुक्तक काव्य की श्रीवृद्धि दीक्षित जी की देन कही जा सकती है।

हमारा प्रतिपाद्य विषय चित्र मीमांसा के संदर्भ में दीक्षित एवं पण्डितराज के विचारों की समालोचना है जिसका आगे के अध्यायों में कमशः विवेचन किया जायेगा। दीक्षित जी की मीमांसा को तर्कपुष्ट कल्पना कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं क्योंकि इनकी विचार धारा विभिन्न फलक पर सुनियोजित की गई हैं। चित्रमीमांसा के कार्य में दीक्षित जी को जो आशातीत सफलता मिली है, वे जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना गहराई तक जाकर प्रस्तुत करते हैं इसे कोई भी तटस्थ आलोचक भली–भांति देख सकता है। यह कितनी विचित्र बात है की दीक्षित जी शब्दालङ्कारों को, उन पर आधारित शब्द चित्रों को नीरस और हेय समझते हैं।[1] इन्होंने चित्रमीमांसा में अर्थ चित्र

१– 'शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियते कवयः न वातत्र विचारणीयमती–वोपलभ्यत् इति शब्दचित्रां शमपहायार्थ चित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।''

चित्रमीमांसा – ४०

को ही महत्व दिया है और उन्हीं के उपस्कारक अलड्.कारों का विवरण दिया। किन्तु इन्होंने अलड्.कारों को साधन माना है, साध्य नहीं, अलड्.कार प्रधान चित्रकाव्य प्रायः वर्णनात्मक हैं या भावात्मक। कल्पना के द्वारा चेतन यक्ष की भावनाओं को अचेतन मेघ से जोड़ देना सुन्दर भाव प्रवणता का ही परिचायक है। भावनाओं के सहयोग से ही कल्पना चित्र को निर्मित करती है। तर्क का पुट होते ही चित्र बनना समाप्त हो जाते हैं। चित्र काव्य की रचना में अलड्.कारों का महत्वपूर्ण योगदान है। कहीं वह सादृश्य रूप में कहीं आरोपमूलक या अध्यसाय रूप में रहता है किन्तु तभी तक जब तक हमारे विचार कल्पना से अपना सम्पर्क बनाये रखते हैं। चित्रमीमांसा दीक्षित की अपूर्ण कृति है। इसमें जिन बारह अलड्.कारों का विवेचन किया गया है उसी पर क्रमशः आगे विचार किया जायेगा।

काव्य का भेद करते हुए ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में सभी आलंकारिक एक मत से "निःशेषच्युतचन्दनम्" इस पद्य को उदधृत करते हैं।१। हॉं इस बात में सभी में भेद अवश्य है कि कोई इसमें अभिधामूलध्वनि मानते हैं तो कोई लक्षणामूलध्वनि।२। यहॉं पहले तो अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से विपरीत लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है। जहॉं तक आचार्य मम्मट, जगन्नाथ एवं अप्पय दीक्षित इत्यादि का प्रश्न है वे अभिधामूलध्वनि स्वीकार करते हैं और विश्वनाथ ने तो लक्षणामूलध्वनि स्वीकार किया है। अभिधामूलध्वनि को स्वीकार करने वाले अप्पय दीक्षित के मतानुसार – "तेरे स्तनों के अग्रभाग का चन्दन धुल गया, अधरों में लालिमा नहीं रही, ऑंखों का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती! तू असत्य बोल रही है। मेरी कथा को न समझने वाली तू यहॉं से बावली में नहाने गयी थी, उस नीच व्यक्ति को मेरा सन्देश देने नहीं गई।

यहॉं नायिका दूती से कह रही है कि तेरे अंगों – प्रत्यंगों से ही यह पता चल रहा है कि तू बावली में नहाकर आयी है, उस नीच को तूने सन्देश नहीं दिया। किन्तु नायिका के कहने का तात्पर्य यह है कि तू उस नीच के साथ सम्भोग करके आयी है। तेरे शरीर की अवस्था ही यह प्रकट कर रही है। अधम पद के प्रयोग से नायक का दूती के साथ सम्भोग व्यंजित होने से यहॉं ध्वनिकाव्य है।

---

१. निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

चित्रमीमांसा पृ० १७

२. साहित्यदर्पण पृ० ८ अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्यं च रन्तुंमितिव्यंगम् प्रतिपाद्यं दूती वैशिष्ट्याद् बोध्यते।

"रसगंगाधर' में अप्पयदीक्षित की व्याख्या निम्न प्रकार है –

निःशेषम् :– उत्तरीय को खींचने से चन्दन का च्युत होना सिद्ध न हो जाय अतः निःशेष पद का ग्रहण किया गया है। यह चन्दन च्यवन स्नानादि सामान्य कारणों से नहीं हैं क्योंकि उससे सम्पूर्ण प्रदेश ही चन्दनरहित हो जाता अतः 'तटम्' पद का ग्रहण करके आलिंगन कृत व्यहार को प्रदर्शित करते हुए सम्भोग के चिहन का उद्घाटन किया गया है।

निर्मृष्टरागोऽधर :– ताम्बूलादि के विलम्ब व्यवहार से भी लालिमा का क्षीण हो सकता है इस प्रकार की सम्भावना का परिहार करने के लिए ही रक्तिमा की निःशेषमृष्टता कही गयी है। स्नानादि कारणों का व्यावर्तन और सम्भोगव्यवहार को पतित करने के लिए ही अधर' पद को विशेष्य रूप से ग्रहण किया गया है। अतः उत्तरोष्ठ के रक्तिम रहने से अधरोष्ठ की अरक्तता चुम्बनादि व्यवहार जनित होने से यह भी ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

अतः गलितार्थ यह है कि पण्डितराज की दृष्टि में निःशेषादि विशेषणों के कारण ही चन्दन च्यवन आदि कार्यों की सम्भोग जन्य होना निश्चित होता है।

यहाँ दोनों के ही मत में "वापींस्नातुमितो गतासि, तस्याधमस्यान्तिकमिति यह अर्थ व्यंगार्थ है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है, उसके अनुसार यह अर्थ व्यंग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हो जाता है तथा यह पद गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत समाहित हो जाने से ध्वनिकाव्य का विषय नहीं रह जाता। अप्पयदीक्षित की व्याख्या को दोषयुक्त मानते हुए वे इसमें दो दोष दिखलाते हैं:–

१. *प्राचीन आलंकारिक ग्रन्थों का विरोध*

२. *उपपत्ति विरोध*

<u>ग्रन्थ विरोध</u>:–

यहाँ प्राचीन आलंकारिक ग्रन्थों से तात्पर्य है–ध्वन्यालोक व काव्यप्रकाश से।

मम्भटाचार्य ने काव्य प्रकाश के पंचम उल्लास के अन्त में कहा है कि निःशेष इत्यादि पद्य में चन्दना च्यवनादि को सम्भोग के हेतु "व्यंजक" के रूप में प्रतिपादित किया गया है वह अन्य कारणों से भी हो सकता है जैसा कि 'स्नातुम' के माध्यम से इसी पद्य में कहा गया है।

अतः सम्भोग से ही हों, ऐसा कोई नियम नहीं है।" ।[1]

इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' में आनन्द वर्धनाचार्य ने प्रथम उद्योत में व्यंजनकों का साधारण्य ही प्रतिपादित किया है, उनका असाधरण्य नहीं।[2]

अलंकारशास्त्र सिद्धांत प्रतिपादक, साहित्यशास्त्र के मेरूदण्ड स्वरूप में प्रामाणिक जो मम्मटादि आचार्य हैं वे व्यंजकों का असाधारण्य स्वीकार नहीं करते है। इस कारण से व्यग्यार्थ के असाधारण्य का प्रतिपादन प्राचीन समस्त ग्रन्थों के विरूद्ध है। यद्यपि दीक्षित जी ने शब्दशः अपने ग्रन्थ में काव्यों का असाधारण्य स्वीकार नहीं किया है। फिर भी उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह ध्वनित होता है । अतः यहाँ प्राचीन आलंकारिकों से विरोध है।

उपपत्ति विरोध :-

१. यदि निःशेष इत्यादि अवान्तर वाक्यार्थो की व्यंग्यार्थ के प्रति असाधरण्यता मान लें क्योंकि इससे स्नानादि अन्य कारणों का व्यावर्तन होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस असाधारण्यता का कोई प्रयोजेन ही नही है। किसी ब्यंग्यार्थ के प्रति व्यंजकों का असाधारण होना आवश्यक नही है। अतः व्यंजनों के असाधारण होने से व्यंग्यार्थ उपपन्न नहीं हों सकेगा।

२. यदि चंदनच्वनादि को संभोगमात्रजन्य मान भी ले तो भी 'वापीं स्नानुमितोगतासि" इस मुख्यार्थ में स्नान के साथ उनका (चंदन च्यवनादि) का अर्थ बाधित होने से वहाँ विरोधी लक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही "वापीं स्नातुमितो न गतासि अपितु तदन्तिकम् इति" यह अर्थ ज्ञात हो जाने पर व्यंजना की प्रवृत्ति ही नहीं हो पायेगी, और व्यंग्यार्थ की उपपत्ति
भी नहीं हो सकेगी। कहने का अर्थ है कि जिस अर्थ को व्यंज्जनालम्य होना चाहिए वह लक्षणालम्य हो जायेगा।

---

१. निशेषेत्यादौ गमकतया यानिचन्दन च्यवनादीन्युपातानि तानि कारणान्तारतोपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यतवेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनेकान्तकानि काव्यप्रकाश ५. व्यंजनानि पृ०१०६

२. भम् धम्मिअ! वैसत्थो सो सुणओ अंज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छ निकुडंवासिणा दरिअसीहेण।। "रसगंगाधर पृ० १३"

३. किसी तरह व्यंजना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं बन सकेगा। क्योंकि चन्दनच्यवनादि को सम्भोग मात्रजन्य कहने से वाच्यार्थ स्वयं में आसिद्ध हो जायेगा, स्नानादि के साथ उनका अन्वय न हो पाने के कारण। वाच्यार्थ की सिद्धि तभी होगी जब सम्भोग रूप व्यंग्यार्थ का बोध होगा और ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग बन जायेगा और यह पद्य वाच्य सिद्धयंगगुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जायेगा।

अतः दीक्षित की व्याख्या प्राचीन आलंकारिकों के विपरीत होने तथा अभीष्ट सिद्धि के प्रतिकूल होने से उचित नहीं है।

समीक्षोपरान्त यह तथ्य उभर कर आता है कि पंडितराज ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण रूप में वर्णित इस श्लोक के अर्थ का ही प्रत्याख्यान करते हुए अर्थ ही बदल दिया है। जहां तक 'अधम' शब्द की बात है इसका अर्थ हीन है और यह हीनता दो प्रकार की हो सकती है। एक जाति से, दूसरे कर्म से। फिर उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से ही न तो कह नहीं सकती, रही कर्म की बात तो वह दूती का संभोग ही सिद्ध होता है, नायिका ने नायक द्वारा किये गये अपराधों का स्मरण करके ही ऐसा कहा है।

पण्डितराज के मतानुसार अधम पद से संभोग के व्यंजित होकर वाच्यार्थ का उपस्कारक हो जाने से ही इस पद्य में गुणीभूतव्यंग्य माना है किन्तु कोई भी काव्य गुणीभूतव्यंग्य का तभी विषय बनता है जब उसमें व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ में ही रस की विश्रान्ति हो, किन्तु जहाँ एक व्यंगयार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का बोध कराता है वहाँ ध्वनिकाव्य का विषय उपस्थित हो जाता है, यहाँ दूती और नायक के बीच सम्पन्न संभोग का सूचक अधम पद नहीं है अपितु यहाँ नायिका का नायक और दूती की के प्रति क्रोधित होना भी अभिव्यंजित हो रहा है।

दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि प्रामाणिक मम्मटाचार्य के अनुसार वाच्य चमत्कार की अपेक्षा से गुणीभूतव्यंग्य चमत्कार कही समकक्ष और कहीं न्यून होता हो तो वहाँ गुणीभूतव्यंग्य का अवसर उपस्थित होता है, किन्तु यहाँ पर व्यंग्य चमत्कार न तो न्यून है और न समकक्ष है।

अतः मम्मटादि प्रामाणिक आचार्यों के गुणीभूतव्यंग्य के प्रमुख भेदों में से भी यहाँ कोई भेद न होने से गुणीभूतव्यंग्य का कोई अवसर ही नहीं है।[1]

अतः पण्डितराज का किया गया खण्डन खींचतान के अलावा और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त प्रसंग के अनुसंधान के विषय में भी पण्डितराज इस बात से सहमत है कि पूर्व – वासनावासित अन्तःकरण वाले सहृदयों को ही यह अनुभूति हो सकती है, सभी को नहीं।[2]

फिर भी जल्पवाद का आश्रय लेकर दीक्षित मत की समीक्षा पण्डितराज के तत्कालीन जाति वहिष्कार स्वरूप उत्पन्न मानव दुबर्लता का ही द्योतक है। किन्तु कोमलकान्तपदावली, रचनाकुशल सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ के उपस्थापन में दक्ष पण्डितराज का साहित्यशास्त्र में अन्वर्थ नाम सार्थक ही है।

चित्रमीमांसाकार श्रीमदप्पयदीक्षिताचार्य द्वारा मध्यम काव्य के रूप में यह पद्य दिया गया है–किन्तु पद्य को देने के पूर्व मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यंग्य काव्य का लक्षण क्या है? इस पर ध्यान देना ही उचित होगा।

"यत्र व्यङ्ग्य वाच्यानतिशायि तद्गुणीभूत व्यंग्यम्"[3] जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो वहाँ गुणीभूत होता है जैसे–

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथ वा।
किमुत सकले याते वाह्नि प्रियत्वमिहेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो।
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः।।[4]

---

१. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्"
व्यङ्गयमेव गुणीभूतव्यङ्गयस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।। काव्यप्रकाश ५/४५–४६

२. न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम् सा०द० ३/८ का० वासनाचेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः तत्रादौ न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपित स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा यद्रागिनामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्तचधर्मदत्तेन – सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादेनं भवेत्। निर्वासनान्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः।। सा०दर्पण ३/८ वृ०

३. चित्र मीमांसा पृ० ३२

४. चित्र मीमांसा पृ० ३४

"एक पहर उपरान्त या मध्याहन में या अपराहन में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय! तुम लौट आओगे न, इस तरह कहती हुई प्रिया जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते है उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आँसू बहाकर रोक रही है।"

यहाँ इस पद्य का वाक्यार्थ नायिका द्वारा अपने मार्मिक वचनों से तथा आँसुओं द्वारा अपने प्रिय की यात्रा को रोकना है। और इसके लिए समय सीमा पूरा दिन है कि इसके बाद भी यदि तुम नहीं आये तो मेरे प्राण चले जायेंगे। यह व्यंग्यार्थ है जो कि वाक्यार्थ प्रियगमन विरोध का उपस्कारक है, अतः यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है।

गुणीभूत व्यंग्य के इस अवसर पर पण्डितराज जगन्नाथ को आपत्ति है। प्रथमतः उनके अनुसार यहाँ विप्रलम्भ श्रृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनिकाव्य है, क्योंकि वह पद्य के वाच्यार्थ से उत्कृष्ट है, किन्तु यहां पर विप्रलम्भ श्रृंगार न तो घटित हुआ है और न अभी घटित होगा। जैसा कि हरति से स्पष्ट है ।

दूसरी बात पण्डितराज के अनुसार "साश्रुनयन उस बाला के कथन से" क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे ? प्रियगमन निषेध रूप वाच्य की सिद्धि हो जाती है अतः व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'आलापैः, इस तृतीयान्त से भी जाने की निवारण की साधकता ही प्रकट हो रही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके बाद न जी सकूंगी। इस व्यंग्य को वाच्य सिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लिया है परनायक आदि विभाव, अश्रु, अनुभाव, चित्त के आवेग को संचारी भाव मानकर उसके संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलम्भ श्रृंगार के कारण इसे ध्वनि काव्य कहा है किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि सहृदयों के मानस पटल पर आलंकारिक मतानुसार यही तत्व सबसे पहले आता है कि ध्वनि काव्य में आन्तरिक व्यंग्य को ग्रहण करके उत्तमोत्तमता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

वस्तुतः प्रियालाप से नायिका का मुग्धत्व सिद्ध होता है और तादृश आलापों से नायक का चिरकालिक प्रवास रोकना भी एक उद्देश्य है। पार्यन्तिक व्यंग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार की जाती है न कि आन्तरिकता को लेकर। दीक्षित ने आन्तरिक व्यंग्य को ग्रहण करके गुणीभूत व्यंग्य का प्रतिपादन किया है। आन्तरालिक व्यंग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार किये जाने पर काव्य प्रकाशकार का यह लक्षणोदाहरण अनुचित हो जायेगा –

ग्रामतरूणं तरूण्याः नवमंजुलमंज्जरीसनाथकरम्

पश्यन्त्या भवतिमुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।। का० प्र० १/३

इस पर टिप्पणी करते हुए डाक्टर गुज्जेंश्वर चौधरी ने अपनी तलस्पर्शिनी समीक्षात्मक पुस्तक "पण्डितराजकृताप्पयदीक्षित समीक्षा विवेचनम् में इस तरह से कहा है

"तत्रापि व्यंग्यसंकेतभंगेन वाच्यमुखमालिन्यातिशयरूपानुभावमुखेनैव विप्रलम्भामासपोषणम् न केवलम् संकेतभंगेन। "

यह सिद्धान्त रूचिकर तो तब होता जब इसे पण्डितराज स्वयंमेव स्वीकार करते किन्तु काव्यलक्षण के प्रसंग में विश्वनाथ सम्मत काव्य लक्षण के खण्डन के अवसर पर आन्तरालिक व्यंग्य की प्रधानता को स्वीकार करने में क्यों उन्होंने स्वयं की ही युक्तियों से उसका निरसन कर दिया है।[1]

अतः अप्पय दीक्षित का ही मत समीचीन है। पण्डितराज का "खण्डन" प्रौढ़ता वाद का प्रभाव है ऐसा मानना चाहिए। अलंकारो की समीक्षा करने के पूर्व दीक्षित एवं पण्डितराज के मतभेद स्थलों की समीक्षा करना समीचीन ही नहीं अपितु विषय की दृष्टि से अत्यावश्यक भी है। दीक्षित ने आचार्य मम्मट की तरह काव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं —

१. **ध्वनिकाव्य — इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है।**

२. **गुणीभूत व्यंग्य काव्य — इसमें व्यंग्यार्थ गौण होता है ।**

३. **चित्रकाव्य — इसमें व्यंग्यार्थ होता ही नहीं है और यदि होता भी है तो वह स्फुट नहीं होता है। यहाँ पर व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलंकार से होती है और इस काव्य के चमत्कार का यही उपादान कारण है।**

दीक्षित ने चित्रकाव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं —

१. **शब्द चित्र — इसमें शब्दालंकारों की प्रधानता होती है। प्राचीनाचार्यो की भांति दीक्षित ने भी शब्दचित्र को कोई महत्व नहीं दिया है। शब्द चित्र की नीरसता के कारण व्यंग्ययुत होने**

---

१. "न तत्रापि कथन्चित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्यैवेति वाच्यम् ईदृशरसस्पर्शस्यं गौश्चलति, मृगोधावति इत्यादावति प्रसक्तत्वेन प्रयोजकत्वात्" — रसगंगाधर १. काव्यलक्षण पृ० ७

पर भी अनुप्रास मात्र की विशेषता के कारण रस एवं ध्वनि के धनी मर्मग्यजन इसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं ।

२. अर्थ चित्र – इसमे अर्थालंकारों की प्रधानता रहती है, यही इस काव्य का वैशिष्ट्य है।

३. उभय चित्र – जहां शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो वहां उभय चित्र काव्य कहा जाता है।

मम्मट् ने उभय चित्र को नहीं माना है, इनके अनुसार चित्र काव्य के केवल दो ही भेद हैं। शब्द चित्र और अर्थचित्र। व्यंग्यहीन होनें के कारण चित्रकाव्य अधम भी है।[१]

विश्वनाथ चित्रकाव्य को नहीं मानते हैं।[२] काव्य में विश्वनाथ के चित्र काव्य विरोधी विचारों की मान्यता नहीं हैं। दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्यो ने भी जिनमें ध्वनिकार आनन्दवर्धन।[३] तथा पण्डितराज जगन्नाथ।[४] प्रमुख हैं। व्यंग्य के अभाव में भी अलंकारघटित चित्रकाव्य को मान्यता दी है।

अलंकारवादी आचार्य दीक्षित व्यंग्य की अपेक्षा चित्रकाव्य को किसी भी स्थिति में न्यून नहीं मानते हैं। न केवल चित्र काव्य के अस्तित्व को स्वीकार किया बल्कि उसके महत्व को भी स्वीकार किया इतना सब होने के बाद भी दीक्षित जी शब्दालंकारों को उन पर आधारित शब्द चित्रों को नीरस और हेय समझते हैं।[५]

---

१. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् – काव्यप्रकाश १/४

२. साहित्यदर्पण ४/१५५

३. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभेकाव्ये तदन्यद् यत्तत्चित्रंमभिधीयते।। ध्वन्यालोक ३–६८

४. रसगंगाधर – १. पृ० ७२ – ७५

५. शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलम्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थ चित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।। चित्रमीमांसा पृ० ४०

चित्रमीमांसा के सन्दर्भ में हम चित्रकाव्य के उपस्कारक प्रमुख अलंकारो का ही विवेचन करेंगे वे अलंकार १२ हैं –

१. उपमा	२. उपमेयोपमा	३. अनन्वय	४. स्मरण
५. रूपक	६. परिणाम	७. सन्देह	८. भ्रान्तिमान्
९. उल्लेख	१०. अपह्नुति	११. उत्प्रेक्षा	१२. अतिशयोक्ति

यहाँ प्रसंगतः प्राप्त अलंकारों की विवेचना करने के पूर्व अलंकार क्या हैं, अलंकारो का क्रमिक विकास कैसे हुआ? विभिन्न अलंकारवादी आचार्यो के मत में अलंकार कितने हैं? अलंकारों की विभिन्नता का मूल क्या है ? अलंकारों का विभाग कैसे हुआ? अलंकारों की परस्पर विभिन्नता का कारण क्या है इत्यादि पर भी विचार कर लेना अप्रसांगिक नहीं होगा अपितु विषय को समझने में आसानी होगी। "काव्यशोभाकरानधर्मान"[1] से काव्य के सौन्दर्याधायक तत्व ही अलंकार हैं। अलंकार के सर्वानुगत सामान्य लक्षण के प्रसंग में प्रायः आचार्य भरत, भामह इत्यादि ने भी कुछ नहीं लिखा।

वामन ने "काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मा गुणाः" कहकर दण्डी के दिये गये लक्षण से वैमत्य स्थापित कर दिया। कालान्तर में उद्भट एवं रूद्रट ने भी कोई सामान्य लक्षण नहीं लिखा। काव्यावतार आचार्य मम्मट ने अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा कि —

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽगद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। काव्य प्रकाश

इसकी व्याख्या प्रदीपकार ने करते हुए लिखा –

" तथा च रसोपकारकत्वे संति तदवृत्तिवं तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वं,

अनियमेन रसोपराकत्वं चेति सामान्य लक्षणत्रयमलंकाराणाम्"

अर्थात रसोपकारक होते हुए भी रस में नहीं रहने वाला, रसोपकारक होता हुआ भी नियम से रस का सहवर्ती न होने वाला, नियम से रसोपकारक न होने वाला यह तीन लक्षण

---

१. "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" दण्डी – काव्यादर्श

सामान्य अलंकार के हैं। किन्तु ये तीनों ही लक्षण अतिव्याप्त दोष से ग्रस्त हैं। यथा प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति रस के आलम्बन विभावों में हैं। दूसरे लक्षण की अतिव्याप्ति रस के उद्दीपन विभाओं में हैं एवं तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति कलश एवं खंजनादि में हैं। आचार्य द्वारा उपस्कुर्वन्ति के स्थान पर उपकुर्वन्ति लिखना भी महान् आश्चर्य का द्योतक हैं। अतः यह भी अलंकार का सामान्य लक्षण नहीं हुआ। इसका सामान्य लक्षण करते हुए एक स्थान पर कहा गया कि – "अपरांगीभूतरसभावादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति अनुप्रासोपमादि विशिष्टशब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कारनिष्ठकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नतादृश–ज्ञाननिष्ठकारकतानिरूपितविषयित्वसम्बन्धवच्छिन्नावच्छेदकतातन्निरूपितालंकारीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वमलंकारत्वम्।।"

अर्थात अपरांगीभूत जो रसभावदि, उससे भिन्न जो व्यंग्य उपमादि उससे भिन्न होताा हुआ, अनुप्रासादि विशिष्ट शब्द या उपमादि विशिष्ट अर्थ दोनों में से किसी एक में रहने वाली समवाय सबन्ध से अवच्छिन्न हुई जो चमत्कारनिष्ठ कार्यता, उससे निरूपित जो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई अनुप्रासादि या उपमादि से युक्त शब्द या अर्थ के ज्ञान में रहने वाली कारणता, उससे निरूपित की गई जो विषयिता सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई, चमत्कारजनकतावच्छेदकता, उसका जो अलंकारीय स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छेदक हो वह अनुप्रासादि या उपमादि अलंकार हैं।

जहाँ तक अलंकारों के विकास का प्रश्न है, वह संसार की सर्वप्रथम पवित्र पुस्तक ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रचुर रूप में विद्यमान हैं। निरूक्तकार यास्क की महिमा से प्राचीन निरूक्तकार गार्ग्य का नाम उपमा के लक्षणकार के रूप में हमारे सम्मुख आता है उपमा का सामान्य लक्षण 'यद्वैतत् तत्सदृशं भवति' यथा अग्निरिव खद्योतः यह उदाहरण दिया है। अप्रसिद्व गुणवाले व्यक्ति का प्रसिद्व गुण वाले व्यक्ति के द्वारा गुणों का प्रकाशन ही उपमा है यथा माणवकोऽयं सिंहः।

वैदिक ऋचाओं में अलंकारों का उदाहरण –

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः,दिवीवं चक्षुराततम्। ऋक् १/१२/२०

सिंहा इव ना नदन्ति प्रवेतसः पिशा इव सुप्पिशः विश्ववेदसः ।। ऋक् १/६४/८

शन्नों देवीरभीष्टये शन्नों भवतु प्रीतये। शंयोरभिस्रवन्तुनः।। साम० १/३३

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेंव तु। कठो० १/३

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकषीति। मुण्ड–३/१/१
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः ।। श्वेता ४/५
वाग्वैतेजः। शतपथब्राह्मण

इस तरह हम देखते हैं कि वेद अलंकारों से भरे पड़े हैं। उसके बाद लोक में भी अन्य ग्रन्थों के अप्राप्त होने के कारण भरतमुनि प्रथम प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्होनें नाट्यशास्त्र में मात्र उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलंकार ही लिखे हैं। अग्निपुराण में १६ अलंकार, विष्णु धर्मोत्तर उपपुराण में १८ अलंकार, भटि्टकाव्य में ३८ अलंकार, भामह ने ३८ दण्डी ने ३७, वामन ने ३१, उद्‌भट ने ४१, रूद्रट ने मिश्रित अलंकारों की संख्या ७३, महाराज भोज ने कुल ७२, आचार्य मम्मट ने ७४, रूय्यक ने ८२, वाग्भट प्रथम ने ३६, हेमचन्द्र ने ३५, पीयूषवर्ष जयदेव ने ६०, विद्याधर ने ८६, विद्यानाथ ने ७४, द्वितीय वाग्भट ने ६८, विश्वनाथ ने ८४, नरेन्द्रप्रभूसूरि ने ७४, भावदेव सूरि ने ५७, आचार्य जिनसेन ने ७६, श्री विश्वेश्वर पण्डित ने ६१, श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल ने १०४, अप्पय दीक्षित ने ११७, श्रीशोभाकर मित्र ने १०६, पण्डितराज जगन्नाथ ने ७०, गोश्वामी कर्णपूर ने ७२, केशवमिश्र ने २२, विद्याभूषण ने ८६, अच्युतराम ने १०२, भटटदेवशंकर ने ११५,अलंकारों की चर्चा की है।

इस तरह अलंकारों की इयत्ता निश्चित कर पाना सरल नही हैं। वैदिक ऋषियों ने तों इतने अलंकार बतलायें है कि उतने लौकिक काव्यशास्त्रियों ने नामकरण भी नहीं कर सके हैं। कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अलंकारों की संख्या ११७ बतलायी है जो कि सर्वाधिक है। शोभाकर के आविष्कृत नितान्त नये अलंकारों को मिला दें तो कुल अलंकार ११७+३८ = १५५ हो जाते हैं।

वस्तुतः जैसे राजा प्रमदादि दोषों से रहित है और न्याय पुरःसर शासन करने की योग्यता भी रखता है किन्तु उसका राजभाव विकसित होता है सेना वगैरह उपकरणों से। ही ठीक उसी तरह काव्य की भी स्थिति होती है, काव्य दोषों से रहित एवं गुणों से युक्त भले हों किन्तु विलक्षण सुषमा उसमें अलंकारों से ही आती है। इसी तरह "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" से भी अलंकारों की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट है।

काव्य के अलंकारों की विभिन्नता का मूल ढूँढने हेतु हमें काव्य के स्वरूप पर विचार करना होगा। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः" ध्वन्यालोक शब्दों में पहली ध्वनि है, ध्वनि में अतिशय उसका विचार ही है, इसी के कारण वक्ता कभी शोकापन्न, प्रसन्न, दीन एवं व्याकुल दिखायी पड़ता है जिसका नाम काकु है। अतः काकु वक्रोक्ति यह नाम काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्याश्रित अलंकार का किया हैं।

ध्वनि के बाद वर्ण है। आनुपूर्वी वाले वर्णों का पुनः पुनः उच्चारण किया जाय तो उनमें एकरूप समता होने से चमत्कार होता है। वर्ण में समतारूप अतिशय है इसे ही "वर्ण साम्यमनुप्रासः" कहा है। इसी प्रकार "भिन्ना अपि शब्दाः भिन्नंस्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः" इस तरह उत्तरोत्तर अलंकार का विशदीकरण होता चला गया।

अब प्रसंगः प्राप्त चित्रमीमांसाके अन्तर्गत अलंकारों का निम्न विभाजन हो सकता है जो कि प्रायः सभी को मान्य है :–

१. सादृश्यमूलक भेदाभेदप्रधान अलंकार यथा –

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण

२. आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकार यथा –

रूपक, अपह्नुति, ससंदेह, भ्रान्तिमान्, परिणाम्।

३. अध्यवसायमूलक अलंकार यथा –

उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

अब अलंकारों की परस्पर विभिन्नता के कारण पर विहंगम दृष्टि रखना अनुचित न होगा।

१. परिणाम एवं रूपक दोनों आरोपगर्भित हैं, किन्तु परिणाम में जहाँ आरोप्यमाण जिसका आरोप करते हैं वह चंद्रादि प्रकृति का उपयोगी होता है और रूपक में वह उपयोगी नहीं होता है यही इन दोनों में भेद हैं।

२. उल्लेख एवं रूपक दोनों में आरोप होता है किन्तु उल्लेख एवं रूपक में अन्तर यह है कि उल्लेख में आरोप का विषय जिसके उपर आरोप करते हैं उसमें आरोप्य के रूप का स्वभाव सम्भव है और रूपक में वह स्वभाव या स्वरूप सम्भव नहीं है।

३. आरोप के विषय में सन्देह करना या भ्रान्ति होना एवं अपह्नव करना सन्देह, भ्रान्तिमान् एवं अपहनुति का परस्पर में भेदक है।

४. उपमा, अनन्वय एवं उपमेयोपमा में साधर्म्य वाच्य है। सादृश्यमूलकता दोनो मे बराबर है।

५ उपमा में उपमान लोकप्रसिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा में वह अप्रसिद्ध होता है, यही इन दोनों में भेद है।

६. उपमा में उपमान एवं उपमेय स्वतः भिन्न है, अनन्वय में वे भेद की कल्पना से भिन्न है, यही इनके भेद का कारण है।

७. उपमा में उपमानोपमेव भाव युगपत् एक काल में होता है और उपमेयोपमा में वह भावपर्याय से होता है, यही इनका भेदक है।

इस तरह अलंकार इतने ही हैं। ऐसा कह पाना बड़ा ही कठिन है। आचार्य दण्डी ने तो कहा है कि "कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति" कौन ऐसा है जो कि उन अलंकारों को सम्पूर्णतया कह सकता है ? अब आगे के अध्याओं में एक–एक अलंकार की चित्रमीमांसा के प्रसंग में दीक्षित एवं पण्डितराज के अनुसार अन्यों को भी ध्यान में रखते हुए समीक्षा करना प्रस्तुत शोध के विषय में प्रसंगत प्राप्त है जो कि आगे क्रमशः कहा जायेगा।

पंचम अध्याय
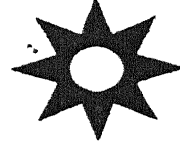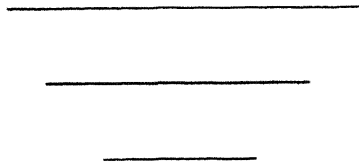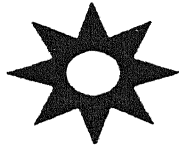
सादृश्यमूलक भेदाभेद प्रधान अलङ्कारों की समीक्षा

उपमालंकार

साहित्य शास्त्र में उपमा का सर्वोत्कृष्ट स्थान सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है। इसके बिना काव्य में काव्यत्व को ही अस्वीकार करना पड़ेगा।[1]

उपमा सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार है। दीक्षित ने तो इसे एक नर्तकी कहा है जो विविध अलंकार भूमिका में काव्य मंच पर आकर रसिकों को रंजित करती है।[2]

शास्त्र में अलंकारों की संख्या इतनी ही है ऐसा कोई निशिचित और नियामक तत्व नही है। ध्वन्यालोककार के मत में अनेक अलंकार अब तक प्रकाशित हो चुके है और प्रकाशित हो रहे हैं।[3] कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी रमणी के कमनीय काया में आभूषणों की कोई इयत्ता नही हैं उसी तरह आभूषणों की भांति अलंकारों की भी कोई सीमा नही है। इतना सब कुछ होते हुए भी वाग्वैशद्य काव्यविदों द्वारा सुकुमार शिष्यों के बुद्धिवर्द्धनार्थ अनेक अलंकार एवं उनके भेद बताये गये हैं। इन सबके बीच में उपमालंकार का लक्षण भेद–प्रभेद वैदिक काल से लेकर नाट्याचार्य भरतमुनि द्वारा भी प्रदर्शित किया गया है। भरतमुनि ने चार अलंकारों के मध्य में उपमा अलंकार को प्रथम स्थान दिया है।[4]

---

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् – काव्य०सू० सू० १

२. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे, नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। चित्रमीमांसा ४१

३. किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि – सहस्त्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिता प्रकाश्यन्ते च। ध्वन्यालोक १/१ का० वृत्तिः।

४. उपमादीपकंचैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते अलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः।।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।। नाट्यशास्त्र १७/४३

उपमा अलंकार के आश्रय से ही कविकुलगुरूकालिदास साहित्याकाश में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में हो गये।[1]

उपमा शब्द का पर्यायवाची अर्थ है – तुल्यता, समानता, या सादृश्य। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी "उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा" अर्थात सामीप्य या सानिध्य के कारण किये गये मान (तुलना) को उपमा कहते हैं। अर्थात किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ तुलना ही उपमा हैं। यही कारण है कि आलंकारिकों ने सादृश्यमूलक अलंकार के अर्न्तगत उपमा अलंकार को प्रश्रय दिया है। दो पदार्थो के बीच समानता के कारण सहृदयों के हृदय में जो सौन्दर्यजन्य आनन्दानुभूति है उसी की तो प्रधानता है।

अतः उपमा का प्राण सादृश्य है। कुछ लोगों ने साधर्म्य को इसका प्राण माना है। उद्योतकार ने इसकी भिन्नता स्पष्ट रूप से स्वीकृत की है –

" सादृश्यं च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेषः" अर्थात् दो पदार्थो अर्थात् उपमान और उपमेय का परस्पर जो सादृश्य है वह उनका एक विशेष धर्म है, जो उनमें अनुगत उनके साधारण धर्म के कारण हुआ करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सौन्दर्य को ही अलंकार मान लिया तथा उनकी इस बात का वामन ने भी समर्थन किया है। इसकी इसी लोकप्रियता के कारण ही दीक्षित का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उपमा वह नटीं है जो काव्य रूपी रंगभूमि में चित्रभूमिका भेद से विविध रूपों में सहृदयों के हृदय का रंजन करती है।

---

१. उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।। नैषधी० पृ०

कुछ लोग उपमान और उपमेय के सादृश्य को लेकर उपमा का लक्षण करते है तो कुछ उपमान और उपमेय के साम्य को तथा दूसरे लोग साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण करते हैं। प्रथम वर्ग में अग्नि पुराण, गार्ग्य, भरत, ।[1] दण्डी, शोभाकर मित्र, वाग्भट प्रथम जयदेव, अप्पयदीक्षित।[2] और पण्डितराजजगन्नाथ।[3] आदि अलंकार शास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय है।

दूसरे वर्ग में भामह, वामन कुन्तक, विद्यानाथ वाग्भटद्वितीय और विश्वनाथ आदि आलंकारिक है। इन लोगों ने साम्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

तीसरे वर्ग में उद्भट, मम्मट, रूयक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, श्रीवत्सलांछन, विद्याधर और केशव मिश्र आदि आलंकारिकों के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों ने साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

---

१. यत्किंचित् काव्यवन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।

उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया।। ना०शा० १७/४४

निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत्।।

प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।। चि०मी० पृ० ७४

उपमितिकिया निष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा।

स्वनिषेधां पर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा।। चि०मी० पृ० ७४

२. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।

रसगंगाधर० आ०२ पृ०२०४

३. विरूद्धेनोपमानेन देशकालकियादिभिः।

उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा।। का० २/३

उपमालंकार के चार अंग होते हैः उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक । वाचक को उपमा प्रतिपादक शब्द भी कहा जाता है। कवि उपमालंकार का प्रतिपादन करते समय किन्हीं ऐसे दो पदार्थों का चयन करता है जिनका कोई धर्म या तो उन दोनों में साधारण रहता है या किसी धर्म के आधार पर उनमें साधर्म्य या सादृश्य का विधान कर लिया जाता है। इनमें से एक पदार्थ साधारणधर्म वाला होने से प्रसिद्ध होता है और इसी प्रसिद्ध साधारण धर्म को उपमान कहा जाता है।[1]

जैसे चन्द्रमा मनोज्ञत्व की दृष्टि से प्रसिद्ध है। इसी के साथ मुख उपमित होता है। अतः चन्द्रमा उपमान है। इसका अप्रस्तुत, अप्राकरणिक, अप्रकृत, अवर्ण्य आदि नामों से भी बोध किया जाता है। कवि जिस इष्ट पदार्थ का वर्णन करना चाहता है वह उपमेय है, जैसे मुख। उपमेय को प्रस्तुत, प्राकरणिक, वर्ण्य या प्रकृत आदि नामों से भी जाना जाता है।

वामन के मतानुसार उपमान को उत्कृष्ट गुण वाला एवं उपमेय को न्यूनगुण वाला होना चाहिए।[2] नागेशभट्ट जैसे उद्भट विद्वान् इन दोनों में परिच्छेद्य–परिच्छेदक भाव स्वीकार करते हैं।[3] वामनाचार्य झलकीकर उपमान को कर्ता तथा उपमेय को कर्म स्वीकार करते है। उपमा में उपमान हमेशा प्रसिद्ध पदार्थ ही हो ऐसी बात नहीं है, अपितु वह कवि कल्पित भी हो सकता है। भरत, भामह, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख विद्वानों का यही मत है। ये आलंकारिक उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य होने पर उपमालंकार मानते हैं और उपमान के साथ उपमेय के तादात्म्यादि की सम्भावना होन पर उत्प्रेक्षा स्वीकार करते हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार उपमेय में उपमान कवि कल्पित भी हो सकता है जैसे –

क्षारन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः।
मतंगजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वताः।। ।४।

---

१. साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम्, तद्धर्मवत्तया वर्णनीयः पदार्थः उपमेयम्। बा०बो०व्या० काव्यप्रकाश उ०१०, पृ०५४५

२. उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्, यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्। का०सू० बृ० पृ०१८६

३. उपमानत्वं च साधारणधर्मवत्त्वेनेषदितरपरिच्छेकत्वम् तद्धर्मवत्तया परिच्छेद्यत्वम् चोपमेयम्। बा०बो०व्या० का० प्र० ५४४, ५४५

४. नाट्यशास्त्र, १७, ५३

किन्तु मेरे विचार से इसे उत्प्रेक्षानुप्राणित उपमा कहने पर कोई बुराई नहीं है क्योंकि पर्वत प्रसिद्ध वस्तु होने से उपमान है और उसमें चलनक्रिया सम्भावित हैं। उत्प्रेक्षा साधन है, और उपमा साध्य। वामनाचार्य का भी यही मत है।।[1]

अप्पय दीक्षित के मतानुसार उपमान कवि कल्पित भी रह सकता है। जैसे –

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठ पर्यस्तरुचः स्मितस्य।।

प्रकृतस्थल में नूतन पल्लव पर रखा पुष्प और मूँगा पर रखा मुक्ताफल उपमान है। ये सभी कविकल्पित हैं । अतः जहां पर कल्पित उपमान के साथ उपमित क्रिया की निष्पत्ति होती है वहॉ कल्पितोपमा मानी जाती हैं।

पण्डितराज के मतानुसार उपमा में उपमान कवि कल्पित और असत्य हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे "त्वायि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः" यहॉ चन्द्रवर्ती आग उपमान है किन्तु चन्द्रमा में आग का दिखाई पड़ना असम्भव है। यहॉ इस उदाहरण में उपमान के असम्भव होने के कारण सादृश्य की स्थापना नही हो सकती। प्रत्युत्तर में पण्डितराज का कहना है कि कवि पूर्णतः तो नहीं किन्तु खण्डशः उपस्थित कर सकता है। अतः कोई बाधा नहीं है।[2] इसी प्रकार "स्तनाभोगे पतन्भाति" में उपमानभूत मेरूपर्वत, चन्द्रबिम्ब और सर्प प्रसिद्ध पदार्थ है। मेरूपर्वत पर चन्द्रबिम्ब से तो सर्प लटक नहीं सकता है। इसलिए उस पर चन्द्रबिम्ब के सहारे सर्प के लटकने रूप धर्म विशेष की कल्पना करके सर्प को उपमान बना दिया है। कल्पितोपमा में उपमान सर्वतोभावेन सत्य नहीं रहता बल्कि उसकी कल्पना करके उपमा की सिद्धि की गयी है। अतः यहॉ उत्प्रेक्षा साधन है और उपमा साध्य।

---

१. ननुकल्पितायालोकप्रसिद्ध्यभावात्कथमुपमानोपनियमः?
गुणवाहुल्यस्योत्कर्षावकर्षकल्पनाभ्याम्। का०सू०बृ०पृ० १८७–८८

२. कविना हि खण्डशः पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पने बाधकाभावात्। रसगं०आ०२,पृ० २०५

यहाँ पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कल्पित सादृश्य असत्य होने के कारण चमत्कारी नहीं है। इस पर पण्डितराज का कथन है कि जिस प्रकार कल्पित कामिनी के साथ मिथ्यालिंगन से भी आनन्द पैदा होता है उसी प्रकार कल्पित सादृश्य भी चमत्कार पैदा कर सकता है। अतः यहाँ कल्पित सादृश्य असत्य होते हुए भी आनन्ददायक है। अतः इनका असत्य या कविकल्पित होना दोषजन्य नही है।[1]

वामनाचार्य झलकीकरके मतानुसार उपमालंकार में उपमान आदि की सत्यता, असत्यता, वाच्यता और व्यंग्यता प्रसक्ति के अनुसार हो सकती है। जैसे "कमलमिव मुखम्" में सौन्दर्य साधारण धर्म है और यह प्रसिद्ध है। यह शब्दोपात्त नहीं अपितु प्रतीयमान है। यहाँ पर उपमा की सिद्धि इसके प्रसिद्ध होने के कारण की जाती है।[2]

उपमेव एवं उपमान के सामान्यविशेषभावापन्न रहने पर अप्पय दीक्षित उपमिति क्रिया की निष्पत्ति मानते हैं। अतः उन्होंने "अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य" में उक्तार्थोपपादनपरा उपमा माना है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ सामान्यविशेषभावापन्न रहने पर उपामिति क्रिया की निष्पत्ति नहीं मानते हैं। ऐसे स्थलों पर वे उदाहरण अलंकार स्वीकार करते हैं।[3]
उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य को बतलाने के लिए किसी साधारण धर्म की आवश्यकता होती है। यह साधारण धर्म उपमान एवं उपमेय दोनों में समानरूप से उपस्थित रहता है। जो शब्द किन्ही दो पदार्थों का भी साधारण धर्म बतलाता है वह साधारण धर्म वाचक कहलायेगा। महाभाष्यकार ने "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र से इसे ही अभिहित किया है।

---

१. कल्पितमसत्सादृश्यं कथं चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारी भवत्कनकनिर्मिताङंगया मणिमयदशनं काति निर्वासितध्वान्तायाः कान्तायाः भावनया पुरोऽवस्थापिताया आलिंगनस्यांह्लादजनकत्वदर्शनात्। उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽपि। रसगंगा०आ०२, पृ० २०५

२. उपमानादिचतुष्टयं च सदसदपि वाच्यं प्रतीयमानमपि च भवति। अतएवं "त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः" इत्यादौ सुधांशौ पावकस्यासतोऽपि उपमानत्वसिद्धिः, 'कमलमिव मुखम्" इत्यादौ लुप्तोपमास्थले प्रसिद्धतया साधारणधर्मस्यानुपात्तत्वेऽपि उपमासिद्धिश्चेति बोध्यम् ।। बा०बो०व्या०का०प्र०पृ० ५४५

३. सामान्याद् विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कृतेरत्रानवतारादुदाहरणालङकारोऽयमतिरिक्तः। रसगंगा०आ०२ पृ०२३६

जो शब्द किसी भी शक्ति से साधर्म्य, सादृश्य और सादृश्य विशिष्ट में से अन्यतर का बोध कराते हैं वे उपमा वाचक कहलाते है। "इव" के अतिरिक्त यथा, वा, तुल्य और सदृश आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो उपमा वाचक कहलाते हैं। आचार्य दण्डी ने तो इन सबकी एक बृहद् सूची ही तैयार कर डाली है।

कुछ लोग सादृश्य और साधर्म्य में भेद मानते हैं, जबकि दूसरे लोग इनमें कोई भेद ही नहीं मानते। सादृश्य और साधर्म्य में भेद को मानने वालों को उपमा के दो भेदों श्रौती और आर्थी भेद इष्ट है। मम्मट इत्यादि विश्रुत आलंकारिकों ने इवादि शब्दों और इवार्थक वति प्रत्यय के प्रयोग में साधर्म्य को वाच्य तथा सादृश्य को अर्थगम्य स्वीकार किया है। अतः इनके प्रयोंग में श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि शब्दों और तुल्यार्थक वति का प्रयोग होने पर सादृश्य वत् अर्थ वाच्य होता है और साधर्म्य अर्थगम्य। साधर्म्य की अर्थतः प्राप्ति होने के कारण इन स्थानों पर आर्थी उपमा होती है ।

पण्डितराज सादृश्य और साधर्म्य में भेद तो मानते हैं परन्तु वह सादृश्य को उपमा कहते है। अतः इनके मत में इवादि का प्रयोग होने पर सादृश्य वाच्य होता है। सादृश्य के वाचक होने से इनके मत मे श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि का प्रयोग होने पर सादृश्यवत् अर्थवाच्य होता है। मुख्य विशेषता सादृश्य में न रहने के कारण आर्थी उपमा मानी जाती है। आलंकारिकों ने इवादि और तुल्यादि रूप में उपमा वाचक शब्दों को दो भागों में रखा है। इवादि वर्ग के शब्द जिसके बाद आते हैं उसी की उपमानता की प्रतीति होती है। अर्थात् वही शब्द उपमान होता है। "मुखं चन्द्र इव सुन्दरम् " में इसका प्रयोग चन्द्र के बाद हुआ है। अतः वही चन्द्र उपमान है। किन्तु इसके विपरीत तुल्यादि कहीं उपमेय में सादृश्य का बोध कराते हैं तो कहीं उपमान में और कहीं उभय पदार्थो में । अतः सादृश्य की उपपत्ति के लिए हमें साधर्म्य का अनुसंन्धान करना पडता है। यह अर्थतः प्राप्त होता है। अतः तुल्यादि का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा मानी जाती है।

उपमा को अधिकांशतः आलंकारिकों ने अनेकालंकारों का उपजीव्य माना है। कोई भी ऐसा युग नहीं रहा जब आलंकारिकों ने इस अलकार का प्रयोग न किया हो। वैदिक काल से लेकर आज तक का साहित्य उपमा की अप्रतिम सौदर्यानुभूति से भरा पडा है। कभी–कभी एक

ही मन्त्र में चार उपमाओं का सन्निवेश मिलता है । जैसे –

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषासेव निरीणीते अणः।।[1]

किन्तु इन अलंकारों का लक्षण तो वेदोत्तर काल में किया गया है। सर्वप्रथम गार्ग्य और भरत ने उपमालंकार का लक्षण किया। भरत ने चार अलंकारों में से उपमा को प्रथम स्थान दिया । रूद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का जो वर्गीकरण किया है वह वैज्ञानिक था।[2] राजशेखर के मत से उपमालंकार अलंकारों का शिरोमणि, काव्यलक्ष्मी का सर्वस्व और कविकुल की जन्मदात्री है। केशव मिश्र ने अपने अलंकार शेखर नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है।[3]

रूय्यक ने कुल बीस अलंकार माने और उनमें उपमा को बीज रूप से अवस्थित रहने के कारण "अनेकालंकारबीजभूता" कहा है। विश्वनाथ आचार्य ने सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा को उपजीव्य माना है। अप्पय दीक्षित ने इसके महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उपमा विविधालंकारों के उद्गम का स्रोत है। उपमा ही सादृश्य की भावना का थोडा विस्तार कर देने पर तथा उक्ति वैचित्र्य से अनेकबिधालंकारों के रूप में काव्य जगत् में अवतरित हो जाती है।[4] उपमेयोपमा, अनन्वय,कतिरेक, रूपक और दीपक आदि के मूल में उपमा ही अनुस्यूत रहती है। इसीलिए अप्पय दीक्षित ने उपमा को "अनेकालंकार बिवर्तवती" कहा है।[5] अप्पय दीक्षित ने उपमा की तुलना तो ब्रहम से कर डाली। जिस प्रकार ब्रहम ज्ञान होने पर मायाजन्य विविध ह्दयावर्जक वस्तुओं से समन्वित संसार से अपने को पृथक् कर लेता है उसी तरह

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत-पोएटिक्स पृ० ३२६–डा०पी०वी०काणे

2. **Rudrat was the first to attempt a scientific classification of figures as based upon certain definite principles, such as vastava, Aupamya, Atisaya and slesh.** P.V.Kane, History of Sanskrit poetics.

३. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।। अलङ्कार शेखर

४. "सैवोक्तिर्भङ्गीभेदानानेकालङ्कारभावं भजते।" चित्र मीमांसा पृष्ठ – ४१–४२

५. एवमुक्तानेकालङ्कार निवर्तवतीयमुपमा।" चित्रमीमांसा पृष्ठ –४३

उपमा का ज्ञान हो जाने पर समस्त अलंकार सुगम हो जाते हैं ।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमा को "विपुलालंकारवर्तिनी" कहा हैं।[2]

चित्र मीमांसाकार ने उपमालंकार के कई लक्षण प्रस्तुत किये हैं –प्रथम लक्षण जैसे–

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।

क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङकृतिस्तु सा।[3]

भावार्थ यह है कि सादृश्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाकर उपमान और उपमेय का वर्णित सादृश्य की उपमा हैं। इस तरह अपने उपमा लक्षण के औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उन्होनें अपने लक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त बतलाया है।

व्यतिरेकालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति कवि को सादृश्य की स्थापना विवक्षित न होने की वजह से नहीं हो सकती। जैसे 'मुखेन निष्कालंकेन न समस्तव चन्द्रमा" इस व्यतिरेकालंकार के उदाहरण में उपमान की न्यूनता बतलाई गई हैं। अतः उपमिति किया की निष्पत्ति का अभाव होने से उपमा लक्षण की प्रशक्ति नहीं हो सकती हैं।

असिमात्र सहायोऽपि प्रभूतारि पराभवे।

नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयंमहाधृतिः।।[4]

केवल तलवार की सहायता से ही प्रचुर शत्रुओं का पराभव करने पर भी महाधैर्यवान् यह राजा अन्य क्षुद्र व्यक्तियों के साथ घमण्ड नहीं दिखलाता है।

अतः यहाँ भी प्रयोजक साधारणधर्मभूत घमण्डकर्तृत्व का निषेध होने से उपमिति किया की निष्पत्ति नहीं होती है। अतः यहाँ उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है ।[5]

---

१. तदिदं चित्रं विश्वं ब्रहमज्ञानादेवोपमाज्ञानात्
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहितो सा।। चित्र मीमांसा पृ० –४३

२. तत्रापित विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते। रसगङ्गाधर पृ० – २०४

३. चित्र मीमांसा पृष्ठ – ३८

४. चित्र मीमांसा पृष्ठ – ६५

५. तथा च व्यतिरेके नातिव्याप्तिः, तत्र सादृश्यवर्णनसत्वेऽपि मुखेन निष्कलङ्केन' इत्यादौ साक्षात्तस्यैव निषेधेन नैवान्यतुच्छजनवत् इत्यादौ तत्प्रयोजक धर्म निषेधेन चोपमिति किग्राया अनिष्पत्तेः। चित्र मीमांसा पृ० ६६

इसी तरह अनन्वयालंकार में भी अतिव्याप्ति नहीं होती हैं। क्योंकि कवि का तात्पर्य उपमानान्तर उपमालक्षण व्यवच्छेद में होता है इसे कवि स्पष्टतः न करके उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध से अभिव्यक्त करता है। अनन्वयालंकार में उपमा साधन है उपमानोपमेय सम्बन्ध को व्यक्त करने का। वस्तुतः अनन्वयालंकार में एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ उपमानोपमेय भाव का वर्णन उपमानान्तर व्यवच्छेद के लिए किया जाता हैं। यहाँ उपमिति क्रिया निष्पन्न नहीं होती। यदि उपमिति क्रिया की निष्पत्ति को स्वीकार भी कर लें तो उपमानान्तर का व्यवच्छेद होने पर भी उपमेंय में अनुपमत्व की प्रतीति नहीं होगी। अनन्वयालंकार का फल उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति कराना है।[1]

'रामरावणयोर्युद्धम् रामरावणयोरिव' इत्यादि में एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ सादृश्य का वर्णन करने से उपमानान्तर का निषेध होता है और अपना ही अपने साथ उपमानोपमेय भाव असंभव होने के कारण वर्णित सादृश्य भी तिरोहित हो जाता हैं। यही इस अलंकार का निर्गलितार्थ है। अतः सादृश्य की स्थापना न होने के कारण उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2]

प्रतीपालंकार में भी उपमिति क्रिया की सिद्धि न होने से उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती है। जैसे ——

आकर्णय सरोजाक्षि वचनीयमिदं भुवि ।
शशाङ.कस्तव वक्त्रेण पामरैरुपमीयते।[3]

हे कमल नयने ! यह निन्दा सुनो। धरती पर मूर्ख लोग तुम्हारे मुख के साथ

---

१. नाप्यनन्वयेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि स्वेन स्वस्य सादृश्यस्य सदृशान्तर व्यवच्छेदे रूद्ररोदन वपोत्खननाद्यर्थवादेऽसदर्थस्य निन्दास्तुत्योरिव द्वारमात्रतया वर्ण्यमानत्वेनोपमिति कियाया अनिष्पत्तेः। अन्यथा स्वस्य स्वेनोपमिति कियानिष्पत्तौ सदृशान्तरव्यवच्छेदेऽपि सर्वथानुपमत्वद्योतनं फलं न स्यात्।। चित्र मीमांसा, पृ० ६६

२. चित्र मीमांसा पृ० ६६

३. चित्र मीमांसा पृ० ७०

चन्द्रमा की उपमा देते हैं। "यहाँ कवि को सादृश्य निबन्धन विवक्षित न होकर उपमेय की उत्कृष्टता अभिव्यक्त करना अभीप्सित है । अतः यहाँ भी उपमिति क्रिया की सिद्धि न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

"उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ" इत्यादि स्थल में भी अप्पय दीक्षित के उपमा लक्षण की प्रसक्ति नहीं है। क्योंकि काव्यप्रकाशकार के "यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्"[1] सूत्र से उक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति अलंकार है, न कि उपमा।

कल्पितोपमा में उपमा लक्षण की अव्याप्ति का निषेध श्री दीक्षित जी ने किया है –

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।

"ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरूचः स्मितस्य।।[2]

यहाँ पल्लव पर पुष्प की स्थिति और मूँगे पर मोती की स्थिति उपमान हैं और ये उपमान कल्पित होते हुए भी सम्भावित हैं। अतः यहाँ उपमा लक्षण की प्रसक्ति होने से यह अव्याप्ति दोष से सर्वथा मुक्त हैं।

इसी तरह "चन्द्रविम्बादिव विषं चन्दनादिव चानलः" में चन्दन से अनल की निष्पत्ति उपमान है। यहाँ कवि को असम्भावित उपमान के ही साथ उपमिति क्रिया की निष्पत्ति इष्ट है। उपमिति क्रिया की निष्पत्ति विवक्षानुसारी होती है। अतः उपमा लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है।

उपमिति क्रिया निष्पत्ति सत्पदार्थ निबन्धनाधीन न होकर कवि विवक्षा निबन्धनाधीन है। इसलिए लक्षण में विवक्षित विशेषण साभिप्राय है, सोद्देश्यपरक है, न कि निष्प्रयोज्य।[3]

अनन्वय अलंकार में उपमिति क्रिया निष्पत्ति के अभाव में उपमा के इस लक्षण की अति व्याप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वहाँ एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ जो सादृश्य वर्णन है। वह उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति कराने के लिए ही होता है।

---

१. काव्यप्रकाश, उ १०, का०सं० १००, पृ० ६२८

२. चित्र मीमांसा पृ० ७३

३. व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा। चित्र मीमांसा पृ० ६८

वृथा चरसि किं भृंग तत्र–तत्र वनान्तरे ।

मालत्याः सदृशी क्वापि भ्रमन्नपि न लप्स्यसे।।

यहाँ वक्ता को अप्राप्त पदार्थ के साथ मालती का सादृश्य ही अभीष्ट हैं। यहाँ उपमान शब्दोपात न होने से उपमान लुप्तोप्मा का स्थल हैं। अतः यहाँ उपमा लक्षण की व्याप्ति हो जाती है।[1]

उपमा लक्षण इसीलिए दीक्षित ने एक और किया है –

"निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत् ।

प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।।[2]

दीक्षित के मतानुसार सामान्य उपमा के पूर्वोक्त दो लक्षणों में अदुष्ट और अव्यंग्यत्व विशेषण् डाल देने पर ये लक्षण अलंकारभूत उपमा के लक्षण बन जाते हैं। किन्तु विचारोपरान्त यह तथ्य निगमित होता है कि पूर्वोक्त दो लक्षणों में ही इनके फलित लक्षण भी निहित हैं। पण्डितराज ने भी इनके फलित लक्षणों को ही विशेषकर खण्डन का आधार बनाया है। पण्डितराज ने उपमा का लक्षण निम्न प्रकार किया है –

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकंमुपमालंकृतिः।"[3]

वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाने वाला सुन्दर सादृश्य अलंकार उपमा अलंकार है।।

सौन्दर्य का तात्पर्य है कि चमत्कार और चमत्कार सहृदयों के हृदय द्वारा प्रमाणित अलौकिक आनन्द हैं।[4] मम्मट की तरह पण्डितराज भी उपमा लक्षण में उपमान और उपमेय का शब्दोपात्त चित्रण नहीं किया है। बल्कि आक्षेप से ग्रहण किया है जहां उपमान सादृश्य सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है वहीं उपमेय उसका अनुयोगीं।

---

१. चित्र मीमांसा पृ० – ७४,

२. चित्र मीमासा पृ० – ७४

३. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशादविशदीभूते मनो मुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्यभावो रसोद्भवः।

शरीरं व्याप्यते तने शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।। लोचन, उ० १ पृ० ७७–७८

पण्डितराज के मत से चमत्कारी सादृश्य का उपमा लक्षण में समावेश कर देने से अनन्वय अलंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। "गगनं गगनाकारम्"[1] इस उदाहरण में सादृश्य वर्णन कवि को इष्ट नहीं हैं तथा वह चमत्कारी न होने से अनन्वय रहित भी है। अतः अनन्वय में चमत्कारी सादृश्य के न होने से लक्षण की प्रसक्ति नही हो सकती है।

"तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्" इत्यादि व्यतिरेक के उदाहरण में भी उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। यहाँ पर चमत्कार रहित सादृश्य का निरूपण होने के कारण व्यतिरेक में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2] अभेद प्रधान रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रान्तिमान तथा उल्लेख आदि में एवं भेद प्रधान दृष्टांत, प्रतिवस्तूपमा, दीपक एवं तुल्ययोगिता आदि कें मूल मे विद्यमान सादृश्य के चमत्कारी न होने से वह उपमा अलंकार नहीं है। अतः यहाँ भी लक्षण की संगति नहीं हो सकती है। "मुखमिव चन्द्रः" इत्यादि प्रतीपालंकार के सम्बन्ध मे और "चन्द्रइव मुखं, मुखमिव चन्द्रः" इत्यादि उपमेयोपमा अलंकार में सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण उपमा के क्षेत्र में दोनों संग्राह्य हैं। अतः यहाँ लक्षण की प्रसक्ति अतिव्याप्ति नहीं कही जायेगी।[3] कल्पितोपमा में कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य वर्णन और कल्पित सादृश्य से आनन्दानुभूति के सिद्धान्त को यदि मान लिया जाये तो इस श्लोक में उपमा की उपपत्ति हो सकती हैं।

"स्तनाभोगे पतन्भाति कपोला, कुटिलोऽलकः।
शशांक बिम्बतौ मेरौ लम्बमान इवोरगः।।[4]

---

१. गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

२. रसगंगाधर, आ० २ पृ० २०४, पं० ११–१३

३. रसगंगाधर, आ०२, पृ० २०४

४. रसगंगाधर आ०२, पृ० २०६

यहाँ कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य की कल्पना कर लेने से कोई बाधा नहीं है। उपमानान्तराभाव कल्पितोपमा का फल हैं। यह वैशिष्ट्य् में साधक है, बाधक नही।[1]

"परे" से पण्डितराज का मन्तव्य शोभाकरमित्र की ओर जाता है जो उपमानान्तराभाव रूपी फल के कारण कल्पितोपमा को उपमा से अतिरिक्त अलंकार मानते हैं। "मित्र" के मतानुसार कल्पितोपमा का फल है उपमानान्तराभाव। अतः उपमा में इस का आविर्भाव नहीं हो सकता है।[2]

पण्डितराज अनन्वय एवं कल्पितोपमा इन दोनों में अन्तर मानते हैं। अनन्वय में एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनो रहता है जबकि कल्पितोपमा में उपमान एवं उपमेय दोनों भिन्न पदार्थ रहते हैं। कल्पितोपमा के लक्षण में पण्डितराज ने "एकोपमानोपमेयकम" विशेषण डाल दिया है। अतः कल्पितोपमा के स्थल में अनन्वय की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।[3] पण्डितराज का फलत्वेन दोनों में साम्य बतलाना उचित नहीं है क्योंकि उपमानान्तराभाव अनन्वय का फल तो सकता है किन्तु कल्पितोपमा का फल नहीं हो सकता है। कल्पितोपमा में उपमेय के अतिरिक्त कम से कम एक उपमान तो अवश्य रहता है। उसी के साथ उपमेय की उपमा दी जाती है। अनन्वय में एक भी उपमान नहीं रहता है जबकि कल्पितोपमा मे कम से कम एक उपमान रहता है।

पण्डितराज दीक्षित के उपमा लक्षण से सहमत नहीं है। अतः उन्होने प्रत्येक पद का खण्डन किया है। अप्पय दीक्षित ने अलंकारभूत उपमा के अन्तिम दो लक्षणों [4] में अव्यंग्य और

---

१. परे तु अस्याः कल्पितोमाया उपभानान्तराभावफलकत्वेनालंकारान्तरतामाहुः तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। रस गंगाधर आ०२ पृ० २०६

२. फलं चात्र प्रतिभटभूतवस्त्वन्तराभावप्रतिपादनम्।..................अतएव नास्या उपमायामन्तर्भावः। अलंकाररत्नाकर सू०सं० पृ० ६

३. कल्पितोमायामुपमायामतिप्रसंगवारणायैकोपमानोपमेयंकान्ति अत्रासत उपमानस्य कल्पनया सदुपताने नास्तीति द्वितीय सदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीतिः।' रसगंगाधर पृ० २७१

४. चित्र मीमांसा पृ० ७४

अदुष्ट आदि विशेषणों को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषो से मुक्त रखने हेतु कहा है। किन्तु पण्डितराज का कहना है कि अलक्षण में भी इसकी प्रसक्ति हो जाने से दीक्षित का अपना उपमा लक्षण दोषयुक्त है, सदोष है।

उपमा लक्षण मे आये अव्यंग्य का खंडन जगन्नाथ ने इस तरह किया है। श्री दीक्षित ने निर्दोष वाच्य और उपमिति किया की निष्पत्ति करने वाले सादृश्य वर्णन को उपमालंकार कहा है। दार्शनिक विचारधाराओं से चिन्तन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्णन को विलक्षण शब्दस्वरूप मानने पर उसके बाच्य होने के कारण तथा वर्णन को विलक्षण ज्ञानस्वरूप मानने पर उसके शब्दवाच्य न होने के कारण उपमा की अर्थालंकारता में बाधा पड़ती है अतः अव्यंग्य विशेषण व्यर्थ है।[1]

अप्पय दीक्षित उपमालंकार में सादृश्य वर्णन को वाच्य मानते हैं पण्डितराज वर्णन को द्विविध बतलाकर अव्यंग्य विशेषण का खण्डन करते हैं। दीक्षित का आशय यह है कि उपमादिक अलंकार चित्रकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। मम्मटादि ने भी चित्रकाव्य को अव्यंग्य माना है।[2] अप्पय दीक्षित ने भी उसे अव्यंग्य ही कहा है।[3] किन्तु पण्डितराज ने अलंकार को उपस्कारक मानते हुए कहा कि यदि व्यंग्य उपमा भी किसी का उपस्कार करती है तो वह अलंकार ही है। यह उपमा गुणीभूतव्यंग्य कहलायेगी। यथा–

अद्वितीयं रूचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृस्यसि।
भूमण्डलमिदं मूढ़ केन वा विनिमालितम् ।।[4]

---

१. अप्पयदीक्षिताः पुनश्चित्रमीमांसायाम् – 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनन् अदुष्टमव्यग्यमुपमालङ्कारः। स्वंनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनम् वा तथामूतं तथा इतिलक्षणद्वयमाहुः। ....तस्य सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्व विशेषणवैयर्थ्याच्च । रंसगंगाधर आ०२, पृ०२१०

२. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। का०प्र०उ०१ पृ०२२

३. यदव्यङ्ग्यमपि चारू तच्चित्रम्।। चित्रमी० पृ०३५

४. रंसगंगाधर आ०पृ० २३७

पण्डितराज के मतानुसार यहां उपमा के व्यंग्य होकर अलंकार होने से गुणीभूत है। किन्तु दीक्षित ने व्यंग्य उपमा के निरसन के लिये जो भी अव्यंग्य विशेषण प्रस्तुत किया वह समीचीन नहीं है। पंडितराज के अनुसार उपमा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य होकर भी अंलकार हो सकती है।[1] किन्तु ऐसा मानने से काव्य की कोटि मे अन्तर पड जायेगा और अव्यवस्था उत्पन्न होगी अतः वाच्यांलकार मानते हुये उपमा को अवर कोटि मे ही रखना न्यायोचित है।

उपर्युक्त 'अद्वितीयम् रूचात्मानं' उदाहरण में पंडितराज ने उपस्कार्य और उपस्कारक भाव मानते हुये गुणीभूत व्यंग्य माना है यह भी उचित नही है। काव्य मे त्रिविध ध्वनियों की स्वतंत्रसत्ता, आनन्दवर्धन, काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी मानी है।[2] यहाँ उपमा अलंकार ध्वनि और भावध्वनि के कारण ध्वनिकोटि की है, न कि गुणीभूत व्यंग्यकोटि की। अतः पंडितराज द्वारा दीक्षित के अव्यंग्य का खण्डन उचित नहीं प्रतीत होता है।

पंडितराज ने अव्यंग्य का खण्डन करने के उपरान्त अदुष्ट और उपमिति किया निष्पत्तिमत् विशेषणो को भी व्यर्थ बतलाया और यह सुझाव दिया कि इनके स्थान पर लक्षण कुक्षि मे यदि चमत्कारकारी विशेषण रख दिया जाय तो लक्षण बहुत कुछ ठीक हो जायेगा। पंडितराज का यह आक्षेप भी युक्तिसंगत नही है। 'गौरिव गवयः' इत्यादि स्थलों में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नही हो रही है निष्कर्ष यह है कि चमकारी सादृश्य के रहने पर ही उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होती है। जगन्नाथ ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[3]

पंडितराज ने दीक्षित के लक्षण में चमत्कारी विशेषण को समाविष्ट करने का सुझाव देते हुए बताया कि 'स्व निषेधापर्यवसायित्व' यह विशेषण निरर्थक हो जायेगा। अतः इसकी कोई आवश्यकता नहीं है,। अतः व्यतिरेक और अनन्वय अलंकारो में सादृश्य के चमत्कारी न होने के कारण ही उनमे लक्षण की प्रसक्ति रूक जायेगी। अतः स्वनिषेधापर्यवसायित्व सादृश्य का विशेषण बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।[4]

---

१. रसगंगाधर आ०२, पृ०२३६–२३७
२. एवंवस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोके अस्मद्गुरूभिर्व्याख्यातः।
३. न ह्यनिष्पन्नमापाततः प्रतीयमानं सादृश्यं चमत्कृतिमाधत्ते।
रसगंगाधर आ०२, पृ० २११
४ रसगंगाधर आ०२, पृ० २११

किन्तु दीक्षित का मन्तव्य अनन्वय और व्यक्तिरेक मे अतिव्यप्ति रोकने का नही बल्कि कुछ और था। पण्डितराज ने अनन्वय और व्यक्तिरेक का प्रश्न उठाकर ठीक नही किया। दीक्षित जी ने लक्षण मे 'उपमिति क्रिया निस्पप्तिमत्' विशेषण अनन्वय और व्यक्तिरेक मे अतिव्याप्ति का वारण करने हेतु प्रयुक्त किया। इनका 'स्वनिषेधपर्यवसायि' विशेषण रखने का औचित्य बस इतना ही है कि उपमा में अन्य तत्त्व का निषेध भले ही हो जाय, किन्तु सादृश्य स्थापन का निषेध न हो।

स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः।
शशांकाविम्बितौ मेरौ लम्बमानं इवोरगः ।।

यहां श्रृगांर मुख्य वाक्यार्थ है। वाच्य उपमा उसी का उपस्कार कर रही है। अतः यह अलंकार स्वरूप है किन्तु पण्डितराज ने इसे अलंकार नहीं बतलाया। जगन्नाथ ने स्वयं इस स्थल पर कल्पितोपमा स्वीकार किया है। पण्डितराज विरूद्व कथन करते है, एक तरफ तो वे इस उदाहरण को अलंकारभूत उपमा का उदाहरण बताते है दूसरी ओर दीक्षित के लिए अनलंकारभूत उपमा का।

उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक इव आदि इन चारो शब्दों का शब्दतः उपादान होने के कारण पूर्णोपमा होती है। इनमें से किसी एक तत्व का अभाव रहने पर लुप्तोपमा होती है।[1] यह लुप्तोपमा अनुपादान भेद से आठ प्रकार की होती है।[2] मम्मट ने समास एवं भिन्न–भिन्न प्रत्ययों के प्रयोग के आधार पर पूर्णोपमा के ६ भेद और लुप्तोपमा के १९ भेद बताकर कुछ २५ भेद स्वीकार किए है।

---

१. उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपवाचकानां चतुर्णामुपादाने पूर्णा।
तेषामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे सति लुप्ता। चित्रमीमांसा पृ० ७७

२. वर्ण्योपमानधर्माणांमुपमावाचकस्यं च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा।। कु०का०सं०७, पृ०६

साधारण धर्म के स्वरूप निर्देश के आधार पर दीक्षित एवं पण्डितराज ने उपमा का वर्गीकरण किया है। उपस्कार्य भेद से भी उपमा के पांच प्रकार होते है।[1] दीक्षित और जगन्नाथ के मत से रूपक के आठ भेदों की तरह उपमा के भी आठ भेद हो सकते है।[2]

साधारण धर्म की वाच्यता आदि के आधार पर उपमा के त्रिविध भेद होते हैं जैसे वाच्य धर्मोपमा, लक्ष्य धर्मोपमा, व्यंग्यधर्मोपमा। उपमा के वर्गीकरण का यह आधार जगन्नाथ को अभीष्ट है। उपमा प्रतिपादक शब्दों के आधार पर भी उपमा को वाच्यालंकार, लक्ष्यालंकार तथा व्यंग्योपमा रूप से वर्गीकृत करना जगन्नाथ को अभीष्ट है।[3]

उपमा के कार्य के आधार पर इसके दीक्षित ने त्रिविध भेद किये हैं यथा:–

1- स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता

2- उक्तार्थोपपादनपरा

3- व्यंग्यप्रधाना

उपमा के वर्गीकरण विभिन्न आधारो से असंख्य भेद हैं[4]। अब आगे उपमा का भेद और बारे में विद्वानों के मत वैभिन्न्य का प्रस्तुतीकरण किया जायेगा। मुख्यतया मम्मट एवं अप्पय दीक्षित कृत उपमा के भेद का ही प्रतिपादन प्रायः विद्वानों को अभीष्ट है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार इन भेद–प्रभेदों में कोई रूचि न होने की वजह से महत्व नहीं दिया गया। मम्मटकृत ६ प्रकार की पूर्णोपमा एवं १९ प्रकार की लुप्तोपमा के साथ–साथ अप्पयकृत अतिरिक्त भेद एवं पण्डितराज कृत खण्डन प्रस्तुत किए गये हैं।

---

१. इयं चैवं भेदोपमा वस्त्वलंकाररसरूपाणां प्रधानव्यंग्यानां वस्त्वलंकारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पचधा ।। रस गंगाधर २२६

२. एवमष्टौ भेदा रूपकालंकारस्य प्राचीनैः प्रदर्शिताः। एवं भेदा उपमाणा अपि वक्तुं शक्याः,एकत्र प्रदर्श्तिेन प्रकारेण संभवस्थलेऽन्यत्राप्युन्नेतुं शक्या इति न प्रदर्शिताः। चित्रमी०पृ० १८१

३. सगंगाधर,आ०२, पृ० २३६

४. अपर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोर्यतः।
दिंग्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्।। चित्रमी०-पृ० १८६

काव्यावतार मम्मट के अनुसार उपमा के जहां २५ भेद हैं, वहीं अप्पयदीक्षित के मतानुसार इसके ३२ भेद हैं। उपस्कारकता भेद से पन्चधा विभाजन होने के कारण क्रमशः उक्त २५ भेद १२५ और अप्पय के ३२ भेद१६० हो जाते हैं।

1 व्यग्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे–

अविरतपरोपकरणं व्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।

आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ।।[1]

"भेषजानीव" पद से वाच्य होने वाली उपमा इसी व्यंग्यार्थ का उपस्कार करती है।

2- व्यंग्यालंकार की उपस्कारिका उपमा जैसे–

अंकायमानमलिके मृगनाभिपंकम्।

पंके रूहाक्षिवदनं तव वीक्ष्य विभ्रते।।

उल्लासपल्लवितकोमलपक्षमूला–

श्चन्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः।।[2]

3- रस की उपस्कारिका उपमा 'दलदरविन्द' में प्रस्तुत है।

4- वाच्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे–

अमृतद्रवमाधुरीमृतः सुखयन्ति श्रवसी सखे गिरः।

नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव।।[3]

5- वाच्यालंकार की उपस्कारिका :–

प्रायः प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरणो में एक अलंकार दूसरे का उपस्कारक है तो उपस्कार्य होने पर एक अंलकार् कैसे हो सकता है। किन्तु इसका परिहार यह है कि जिस प्रकार ताटंकादि आभूषण कामिनी के कर्ण के प्रति उपस्कारक हैं। आपस में वही अन्यों के प्रति अलंकार्य हो जाते है। उसी प्रकार रसादि के सान्निध्य में जो उपमादि अंलकार अंलकार होते हैं वही किसी अन्य अप्रधान अंलकार के प्रति अलंकार्य हो जाते हैं।

---

१. रसगंगाधर पृ० १७२

२. रसगंगाधर पृ० १७२

३. रसगंगाधर पृ० १७२

उपस्करण भी द्विधा होता है– साक्षात् एवं परम्परया। साक्षात् उपस्कारिणी उपमा के भेद उपर्युक्त उदाहरण हैं। किन्तु परम्परया उपस्कारिणी उपमा के उदाहरण निम्नवत् हैं:–

"नदन्ति मददन्तिनः परित्रसन्ति वाजिव्रजाः।

युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः"।।[1]

साधारण धर्म के आधार पर फिर उपमा के ६ भेद हो सकते हैं। ये निम्नवत् हैं:–

1- जहां वह धर्म अनुगामी हो। जैसे–

शरददिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः

वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचापइवाम्बुदः।।[2]

2- विम्बप्रतिबिम्बात्मक धर्म का उदाहरण जैसेः–

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।

काषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यतिः।।[3]

इसी तरह से अन्यो का भी उदाहरण यथास्थान रसगंगाधर में उद्घृत है, किन्तु यहां विस्तार भय से प्रसंग उचित नही है।

साधारण धर्म के पुनः त्रिविध होने से उपादेय, अनुपादेय और उपादेयानुपादेय भेद होते हैं। जिस साधारण धर्म को शब्दतः कहने की नियमतः अपेक्षा होती है वह उपादेय होता है जैसे–"नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटाः"। जो साधारण धर्म प्रसिद्ध हो एवं शब्दतः कथित न होने पर भी जिनका बोध नियमतः हो ही जाता है वह अनुपादेय धर्म होते हैं जैसे–"अरविन्दमिव मुखम"। उपादेयानुपादेय धर्म का उदाहरण है–शंखवत्पाण्डुरच्छविः। रूपक अलंकर के सावयव और निरवयव भेद की तरह उपमा के भी ८ भेद होते है–उपमा के वाच्यत्व, लक्ष्यत्व व व्यंग्यत्व से भी त्रिविध भेद होते हैं।

इस तरह पण्डितराज ने विभिन्न दृष्टियों से उपमा का भेद निरूपण किया है।

---

१. रसगंगाधर पृ० १७६
२. रसगंगाधर पृ० १७४
३. रसगंगाधर पृ० १५६

मम्मट ने पूर्णा और लुप्ता रूप से उपमा के दो भेद किए हैं तथा लुप्तोपमा के १६ प्रकार कहे हैं।

पूर्णोपमा के प्रथमतः –श्रौती और आर्थी दो भेद होते है–वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा भेद से पूर्णोपमा के श्रौती के ३ भेद और आर्थी के ३ भेद कुल ६ भेद होते हैं।

लुप्तोपमा सात प्रकार की होती है– उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता। फिर उपमानलुप्ता दो प्रकार की होती है १. वाक्यगा, २.समासगा। धर्मलुप्ता ५ प्रकार की होती है– श्रौती वाक्यगा, आर्थीवाक्यगा, श्रौती समासगा, आर्थीसमासगा, आर्थीतद्धितगा। वाचकलुप्ता के समासगता, कर्मक्यज्जगता,: आधारक्यज्गता, क्यंग्यता, कर्मणमुल्गाता, कर्तृणमुल्गाता ये ६ प्रकार के भेद होते हैं।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की होती है । वाचक धर्मलुप्ता क्विग्ता और समासगता दो प्रकार की होती है।

वाचकोपमेयलुप्ता एक ही प्रकार की होती है तथा धर्मोपमान वाचकलुप्ता केवल समासगता ही होती है।

मम्मटाचार्य ने वाचकलुप्ता का उदाहरण काव्य प्रकाश में यह दिया हैः–

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा–
वन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचुन्चुः।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे–
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना।।[1]

पण्डितराज के मत से यह वाचकलुप्ता का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि इसमें धर्म का लोप भी है। एतदर्थ वे निम्न तर्क देते हैः–

१– उपमाप्रयोजकताबच्छेदक धर्म साधारण धर्म होता है। उक्त उदाहरण मे किसी ऐसे साधारणधर्म का कथन नहीं हुआ है जो उपमा का प्रयोजक हो।

---

१. काव्यप्रकाश पृ० १४४

२– क्यच् और क्यङ. प्रत्ययों का वाच्य आचाररूप अर्थ साधारण धर्म नहीं हो सकता है।

३– उपमा के प्रयोजक रूप से ही साधारण धर्म का अभाव होना ही धर्मलोप कहलाता है, यदि ऐसा न माने तो "मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव प्रंकजम्" इसमें पूर्णोपमा हो जायेगी। इस प्रकार कुल ६ प्रकार की पूर्णोपमा और १९ प्रकार की लुप्तोपमा २५ उपमा के भेद हुए।

प्रथम मतः– अप्पय दीक्षित के मतानुसार मम्मट ने वाचक लुप्ता के जो ६ भेद बतलाये है उसके अतिरिक्त उसके तीन भेद और होते हैं। **पहला भेद** 'कर्तर्युपमाने' सूत्र से णिनि प्रत्यय होने पर उपमालंकार होती है जैसे 'कोकिलालापिनी' में कोकिल इव आलपति यहाँ णिनि प्रत्यय है।

दूसरा भेद 'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से कन् प्रत्यय होने पर लुम्मनुष्ये' से उसका लोप होकर होता है जैसे 'चन्चा पुरूषः' सोऽयं यः स्वहितं नैव जानीते, इसमें चन्चापद में कन् प्रत्यय का लोप है।

तीसरा भेदः– आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होने पर होता है तथा किसी अन्य पद से समान धर्म का प्रतिपादन होता है जैसे– "आह्लादि वदनं तस्य शरद्राकामृगांकति' यहाँ मृगांकति में क्विप् प्रत्यय है।

उपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की बतलाई गई है। उसका तीसरा भेद तद्धितगा भी होता है। यथा—

"यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्यकृतः।

उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम्।।[1]

यहाँ उपमान लुप्ता तद्धितगा उपमा है। वाचकोपमानलुप्ता का उल्लेख ही नहीं किया गया है। यद्यपि वह भी लुप्तोपमा का एक प्रकार है। धर्मोपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की कही गई है, वह तद्धितगा भी होती है। वाचक धर्म लुप्ता भी तद्धितगा होत है। जैसे

---

१ रसगंगाधर पृ० १६६

"चन्चापुरुषः सोऽयं योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः"।

अतः इन्हें मिलाकर कुल उपमा के ३२ भेद होते हैं।

द्वितीय मत – जो धर्म लुप्ता उपमा वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा तीन प्रकार की कही गई है वह द्विर्भाव में भी दृष्टिगत होती है जैसे "पटुपटुर्देवदत्तः"।[1]

तृतीय मत – धर्म वाचक लुप्तोपमा में 'मम्मटसम्मत' क्विपता और समासगता के अतिरिक्त कन् प्रत्यय के लोप से भी उपमा का एक भेद होता है यथा–

नृणां यः सेवमानानां संसारोप्यपवर्गति।

तं जगत्यमजन्मर्त्यश्चन्चा चन्द्रकलाधरम्।।[2]

इस पद्य में 'अपवर्गति' में क्विप् प्रत्यय तथा 'चन्चा' पद में कन् प्रत्यय है। इन्हीं पदों में उपमा हैं।[3]

चतुर्थ मत– रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः।

पुरतो हरिणाक्षीणंमेषपुष्पायुधीयति।।[4]

यहाँ वाचकोपमेयलुप्ता उपमा है।

---

१. धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते।"पटुपटुर्देवदत्तः" इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्य द्विर्भावविधानात्। रसगंगाधर पृ० २२३

२. रसगंगाधर पृ० १७१

३. अत्र क्विप् कनोर्लोपे प्रत्येकं वाचक धर्मलोप उभयत्रापि। रसगंगाधर पृ० १७१

४. रसगंगाधर पृ० १७१

पंचम मत—— उपमा के तीन प्रकार स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, उक्तार्थोपपादनपरा और प्रधान व्यंग्यात्मिका पूर्व में ही कही जा चुकी है।

षष्ठमत— पूर्णोपमा में साधारण धर्म के भेद से जो नाना प्रकार होते है वे लुप्तोपमा में नहीं होते हैं।[1]

पण्डितराजकृत अप्पयदीक्षित के उक्त मतों का खण्डनः— प्रथम मत के सम्बन्ध में पण्डितराज को कोई आपत्ति नहीं है।

द्वितीय मत के खण्डनमें निम्न तर्क दिए हैं— 'पटुपटुर्देवदन्तः यहाँ वाचक शब्द का उपादान न होने के कारण इसे धर्म लुप्ता का उदाहरण नहीं कहना चाहिए। द्वित्व सादृश्य का वाचक नहीं अपितु द्योतक है। इसकी द्योतकता में प्रमाण है—कैय्यट के अनुसार 'प्रकारेगुणवचनस्य' सूत्र में की गई व्याख्या।

तृतीय मत का खण्डन – "नृणां यः सेवमानानां " इत्यादि पद वाचक धर्मलुप्ता का उदाहरण नहीं है। क्योंकि 'चन्चा' पद में सादृश्य के वाचक कन् प्रत्यय का लोप होने पर भी "तं चन्द्रकलाधरमभजन्" इस अंश से चन्द्रकलाधरमजन राहित्यरूप साधारण धर्म का कथन हो जाने से इसमें धर्म का लोप कहना अनुचित हैं। अप्पय ने 'स्वहिताकर्तृत्व' और पण्डितराज ने 'शिवभजनराहित्य' को लेकर धर्मलुप्तात्व की व्याख्या प्रस्तुत की है।

यदि यह कहा जाय कि सादृश्य साधारणधर्म का वस्तुतः नियामक है। उभयबृत्तित्वज्ञान तो चाहे उसका साक्षात दोनो के साथ अन्वय न होता हो या फिर उपमेय के या उपमान के विशेषण के रूप में उपात्त होने से उसे साधारण धर्म मान लेना चाहिए तो यही दृष्टि "चन्द्रकलाधरभजनराहित्य " के प्रति भी अपनानी चाहिए।

यदि चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को उपमेयतावच्छेदक तथा स्वात्महिताकरण साधारणधर्म माना जाय तब "नृणां यः सेवमानानां " इत्यादि पद्य में धर्म का लोप माना जा सकता है।

---

१. रसगंगाधर पृ० १८१

चतुर्थ मत का खण्डन —— वाचकोपमेयं लुप्तोपमा के 'रूपयौवनलावण्य' ....आदि उदाहरण में व्याकरण सम्मत त्रुटि है पुरतः पद के दूषित होने से। यहाँ पुर शब्द का जो अर्थ विवक्षित है सम्मुख वह वास्तव में होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैयाकरणों ने भी स्पष्ट : कहा है —— पत्यापुरतः परतः, आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि और पुरतः सुदती समागतम माम् आदि किन्तु ये अपवाद हैं।

पंचम मत का खण्डन भी पण्डितराज ने निम्नवत् किया है। उन्होने अप्पय दीक्षित के द्वारा किये गये उपमा के त्रिविध भेदों का भी खण्डन कर दिया है।

षष्ठ मत के खण्डन में पण्डितराज ने कहा कि अप्पय दीक्षित के अनुसार उपमा के लुप्ता प्रकार में उक्त भेद सम्भव नहीं है, ठीक नहीं है क्योंकि "मलयइव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः" — यहाँ धर्म लुप्ता उपमा है परन्तु इसमें कोई धर्म अनुगामी नहीं हैं। पण्डितराज ने उपमाध्वनि को स्वीकार करते हुए इसके दो भेद माने है। १. शब्दशक्तिमूल २. अर्थशक्ति मूल। पण्डितराज ने सर्वप्रथम सर्वाधिक मान्यताप्राप्त मम्मटादि के लक्षणों को भी दृष्टिगत करके तुलनात्मक एवं प्रामाणिकता की सिद्धि करते हुए उपमा का विवेचन किया है। पण्डितराज के मत से सादृश्य और साधर्म्य में कोई भेद नहीं है। दो धर्मों की समानता को सादृश्य या साधर्म्य कहा जाता था किन्तु पण्डितराज ने उनके अध्यवसाय को सादृश्य कहकर उपमा के क्षेत्र में नवीन योग दिया है।

भेदों के सम्बन्ध में भी पण्डितराज ने महत्व नहीं दिया है जितना दीक्षित ने पण्डितराज ने दीक्षित के मतों को जमकर खण्डित करने की कोशिश की है किन्तु न्यायोचित ढंग से नहीं। व्याकरण के बल पर दिये गये दोष सहृदयग्राही नहीं हैं अतः पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन वाद नहीं अपितु जल्प व वितंण्डा का रूप धारण कर लेता है।

उपमेयोपमा

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारो में उपमेयोपमा का दूसरा स्थान है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख भामहाचार्य ने किया। दण्डी ने इसे स्वतंत्र अलंकार न मानकर उपमा का ही एक भेद माना। तदनन्तर उद्भट, वामन, मम्मट, रूय्यक, शोभाकर , विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनार्थ, दीक्षित और जगन्नाथ प्रभृति ने अपने – अपने ढंग से विवेचन किया। प्राचीन आचार्यों ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है———

उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि

उपमेयोपमा सा स्याद् विविधैषा प्रकीर्तिता।[1]

अर्थात जहाँ दो वस्तुएं पर्याय से (परस्पर युगपत नहीं) उपमानोपमेय बनें वहाँ उपमेयोपमालंकार होता है किन्तु इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुएं युगपत एक साथ उपमानोपमेय बनती है वहां भी उपमेयोपमा हो सकता है। जैसे ——

त्वद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्

सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।।

प्रस्पन्दमानपरूषेतरतारमन्त —

चक्षुस्तव प्रचलित भ्रमरश्च पद्मम् ।।[2]

इस पद्य में रघु के नेत्र और कमल को युगपत एक ही वाक्य में एक दूसरे का एक उपमानोपमेय बताया गया है। ऐसी स्थिति में प्राचीनों के उपमानोंपमेय लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० १३३

२. चित्रमीमांसा पृ० १३६ रघुवंश ५ सर्ग

दूसरी आपत्ति सादृश्य को लेकर है। दीक्षित के मतानुसार उपमेयोपमा में केवल दो प्रकार के सादृश्य होने चाहिए——

१. अनुगामी जो उत्पत्ति से लेकर विनाश तक स्थायी रहे।

२. वस्तु प्रतिवस्तुभावः— जहाँ दो धर्मियों में एक ही धर्म का शब्द भेद से दो बार उपादान हो। किन्तु इसका भी अपवाद देखने को मिलता है जैसे———

रजोभिः स्यन्दनोदधूर्तैर्गजैश्च धनसन्निभैः।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्।।[1]

यहाँ पृथ्वी और आकाश के धर्म भिन्न–भिन्न हैं। एक स्थान पर हाथी है दूसरे स्थान पर मेघ है इसलिए यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव सादृश्य है और परस्परोपमा हैं। उपमेयोपमा में तृतीय सादृश्य निषेध का होना आवश्यक है। जैसे तेरा मुख चन्द्रमा के समान है या चन्द्रमा तेरे मुख के समान है अर्थात मुख और चन्द्रमा के समान तीसरा है ही नहीं। उक्त उदाहरण 'रजोभिः स्यन्दनोधूतैः' में तृतीय सदृश निषेध की प्रतीति न होने के कारण उपमेयोपमा नहीं है। किन्तु प्राचीनों का उपमेयोपमा का लक्षण यहाँ घटित हो जायेगा अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

दीक्षित के अनुसार उपमेयोपमा का लक्षण निम्न है——

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या बृत्यन्तरेण वा ।

एक धर्माश्रया सा स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता ।।[2]

अर्थात जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक दूसरे के किसी एक ही वाच्य अथवा व्यंग्य धर्म के आधार पर हो वहाँ उपमेयोपमा होगी। इसकी तीन अवस्थायें होती हैं——

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ५३ रघुवंश ४–२६
२. चित्रमीमांसा पृ० १४०

साधर्म्य के व्यंग्य होने पर –

खमिव जलं जलमिव खं

हंसइव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः ।

कुमुदाकारास्तारा –

स्ताराकाराणि कुमुदानि।।

जल आकाश के समान है, आकाश जल के समान है। चन्द्रमा हंस के समान है। तारागण कुमुदिनी की तरह सुशोभित है और कुमुदुनियां तारागण की तरह सुशोभित हैं। यह शरद ऋतु का वर्णन है। यहाँ साधारण कर्म निर्मलता है जो कि व्यंग्यगम्य है। किन्तु उपमेयोपमा में सादृश्य व्यंग्य भी हो सकता है दीक्षित का यह मत चिन्तनीय है।

२. साधर्म्य के वाच्य होनेपर —

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम् ।

अम्भोजमिव ते वक्त्रं त्वदवक्त्रमिव पंकजम्।।[2]

यहाँ कमल और मुख में सुगन्ध आदि अनुगामी धर्म वाच्य है।

३. वस्तुप्रतिवस्तुभाव में उपमेयोपमा —सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायबदनाम्बुजाः।

वाप्योऽगना इवाभान्ति यत्रवाप्य इवांगनाः।।[3]

यहाँ शोभा धर्म वस्तु प्रतिवस्तुभाव से प्रतिपादित हुआ है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ४६ सुधा व्याख्या

२. चित्रमीमांसा पृ० १३५

३. चित्रमीमांसा पृा १३५

इस अलंकार का प्रमुख उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार है। यही कारण है कि विभिन्न आलंकारिकों ने उपमा से उपमेयोपमा को एक पृथक वाच्य और सौन्दर्य माना है तथा उसे एक अतिरिक्त अलंकार के रूप में मान्यता दी है। वस्तु प्रतिवस्तु भाव रूप उपमेवयोपमा के विशेष रूप से उदाहरण इस प्रकार हैं।

वक्त्रं पद्ममिवैतस्या नेत्रं भृंगमनोहरम्

पद्मं वक्त्रमिवाभाति भृंगलोचनभूषितम्।।[1]

यहाँ कमल भौरें की तरह कजरारी आँखों से युक्त मुख की तरह शोभा पा रहा है। दीक्षित जी की चित्रमीमांसा में निगमित इतनी परिष्कृत व्याख्या के बावजूद पण्डितराज को कई आपत्तियाँ हैं जो कि चिन्तनीय है –

प्रथम आपत्ति यह है कि दीक्षित के मतानुसार तो

"अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराणि गर्वम् न कदापि माया ।।

गवेषणेनालमिहम्परेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ।।

अर्थात हे गौरांगि! मैं लता के समान हूँ । इस तरह का महान गर्व तुम कभी न करना क्योंकि इसके लिए किसी दूसरे को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। यह लता ही तुम्हारे समान है। अर्थात यह लता तो अनायास तुम्हारे सदृश निकल आयी। यदि इस तुलना को खोजा जाय तो पता नहीं कितनी ऐसी वस्तुएं सामने उपस्थित हो जायें।

उक्त उदाहरण में दीक्षित जी के लक्षणानुसार उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है । अगर यह कहें कि उपमेयोपमा मान लेन पर विवाद समाप्त हो जायेगा तो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि उक्त उदाहरण के उत्तरार्द्ध में केवल गर्वम् को हटा देने से भी तृतीय सदृश की निबृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता है। यहाँ "और भी तेरे समान है ही पर उनकों खोजने से क्या फल" इस अर्थ का प्रतिपादक उत्तार्द्ध तर्कसंगत होता है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० १७२

जब तक तृतीय सादृश्य निषेध की निबृत्ति नहीं होती हो तब तक उपमेयोपमा हो ही नहीं सकती है यही दीक्षित का भी मत है।

पण्डितराज का कहना है कि यदि आप 'अहं लतायाः' इस श्लोक में अतिव्याप्ति दोष निवारणार्थ "तृतीय सदृश्य निषेध जिसका फल हो" यह विशषण और लगा दें तो उपमेयोपमा के लक्षण के समस्त विशषण व्यर्थ हो जायेंगें क्योंकि वही एक विर्शेषण सभी कमियों की पूर्तिकर देगा।

दूसरा आक्षेप यह है कि "परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक बृत्ति मात्र से बोधित होनी चाहिए" यह कथन भी स्वतः अयुक्तिकर हो जायेगा क्योंकि "स्वमिव जलम् जलमिव खम्" इसमें आकाश और जल का सादृश्य के साथ अन्वय जो हो रहा है उसमें प्रतीति होने वाली प्रतियोगिता संसर्ग रूप है। अतः वह किसी बृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती है। आलंकारिक नियमानुसार बृत्ति द्वारा ज्ञात होने वाले पदार्थों का संसर्ग वृत्ति द्वारा ही ज्ञात नहीं होता।

प्रथमतः उपमेय को द्वितीय वाक्य में उपमान एवं प्रथम उपमान को द्वितीय वाक्य में उपमेंय बनाया जाता है। इसमें तृतीय सदृश की निवृत्ति होती है। क्योंकि औपम्य निर्वहन हेतु तृतीय पदार्थ की आवश्यकता पडती ही नहीं। "कमलेवृ मर्तिमतिरिवकमला" इस उदाहरण में काव्य का औपम्य निर्वहन कमला और मति तक ही सीमित रहता है और इससे आगे बढ ही नहीं पाता, अतः यहाॅं उपमेयोपमालंकार होता है।

द्वितीयतः पण्डितराज ने 'अहं लताया सदृशीत्यादि" उदाहरण में परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा कृशता आदि एक कर्म से सिद्ध और अभिधा रूपी एक वृत्ति से बोधित कहकर दीक्षित जी के लक्षण को जो अतिव्याप्तिदोषदुष्ट कहा है वह भी तथ्यहीन ही है क्योंकि दो वस्तुाओं में उपमानोपमेयभाव का यथा कथंचिद् पर्यायतः परिवर्तन मान भी लिया

जाय तो भी यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि इसका उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार न होकर 'लता सदृश और तेरे समान" में सादृश्य रूप संवेगों के कारण मन की भावना का प्रदर्शन है। साधारण धर्म की एकरूपता में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का 'खमिवजलं जलमिव खम्" उदाहरण द्रष्टव्य है। यहाँ स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एकरूप ही प्रतीत हो रहा है।

साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का "सच्छायाम्भोज" उदाहरण भी दर्शनीय है। पण्डित जी द्वारा उदाहृत यह सूक्ति 'रमणीयस्तवकयुता' भी विशेष रूप से ध्यातव्य है ।

"खमिव जलं जलमिव खम्" इस उदाहरण में पण्डित जी ने जो उपमेयोपमा का खण्डन किया है उस खण्डन का खण्डन नागेश भट्ट के शब्दो में दर्शनीय है —— एक बृत्ति से बोधित होने का अर्थ है अन्य किसी बृत्ति से बोधित न होना। अतः इस उदाहरण में किसी प्रकार का दोष नहीं है। कारण यह है कि संसर्गों का बोध अन्य किसी बृत्ति से नहीं होता है। पण्डितराज ने उपमेयोपमा को उपमा का ही एक अवान्तर भेद माना है, पृथक अलंकार नहीं। यह अन्यों से इनकी विलक्षणता है। परम्परानुसार उपमेयोपमा का लक्षण तथा प्रयोजन स्पष्टीकरण करने का श्रेय पण्डितराज की एक अद्भुत देन है। उन्होंनें परमतखण्डन में अपने आग्रही स्वरूप का परिचय दिया है जो कि दीक्षित जी के प्रति आतिमत द्वेष इत्यादि के कारण स्फुट प्रतीति होता है। शास्त्र को आधार मानकर किया गया दोष दर्शन उनकी इसी दृष्टि का परिचायक है। उपमेयोपमा में वाक्य भेद पण्डितराज को भी मान्य है किन्तु लक्षण में समाविष्ट न होने से उसकी अनिवार्यता नही है।

अनन्वयालंकार

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में अनन्वय का तीसरा स्थान है। इसमें एक ही पदार्थ की उपमा स्वयं उसी से की जाती है । अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति है –

''न विद्यते अन्वयः सम्बन्धाः उपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वयः'' अर्थात किसी उपमेय का अपने से भिन्न किसी उपमान से साधारण धर्मत्व रूप सम्बन्ध का न रखना। निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि अपने से ही अपनी उपमा रखना अनन्वय है। इसमें उपमेय के प्रति कवि की आस्था अत्यन्त दृढ़ होती है। अतः उपमेय के सदृश कवि अन्य किसी पदार्थ की कल्पना ही नही कर पाता है। उपमा का जहाँ सौन्दर्य साम्य की प्रतीति में है किन्तु अनन्वय का चमत्कार अन्य उपमानों से साधर्म्य सम्बन्ध के व्यच्छेद में है।

प्राचीन आचार्यो ने अनन्वय का लक्षण इस प्रकार किया–

'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः।'[1]

अर्थात जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। किन्तु यह अलंकार समुच्चय में भी घटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त हो जाता है। लक्षण में एव पद के सन्निवेश से एक में ही उपमिति किया में वैसा वर्णन होता है, फलस्वरूप इससे उपमेयोपमा के खमिवजलं जलमिव खम्'' इस उदाहरण में तथा रसनोपमा के भणितिरिवमतिः मतिरिव चेष्टा इस उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं हो पाता है। कारण यह है कि एक ही उपमिति किया का दोनों जगह अभाव है।

उदाहरण कथन से अनन्वय के दो प्रकार हैं। प्रतीयमान का उदाहरण जैसे – ''गगनं गगनाकारं, सागरम् सागरोपमः, यहाँ एक ही गगन उपमानात्व और उपमेयत्व दोनों है। गम्भीरता और दारूणता रूपी धर्मों में वाच्यता के अभाव से प्रतीपमान धर्म की ही कवि को विवक्षा है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० १४७

निर्दिष्ट धर्म के उदाहरण जैसे---

न केवलं भांति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।
यावद् विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासाइव तद्विलासा।।[1]

यहाँ "वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके हाव - भाव उसी के ही समान हैं। यह प्रतीति अनन्वय में उपमानान्तर सम्बधाभाव की प्रतीति को व्यक्त करता हैं। अतः यहाँ अनन्वयालंकार है। यहाँ प्रकाशन रूप धर्म की शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्यत्व से निर्दिष्ट धर्मता है।

प्राचीनों के इस अनन्वय में दोष दिखलाते हुए दीक्षित जी अपने लक्षण को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से और आगे बढ़ते हैं –

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थ कामेषु समं प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्।।

इसमें एक ही राम का उपमानत्व और उपमेयतव भी है, किन्तु यहाँ अनन्वय नहीं।

इसी प्रकार –

"त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिम् पितुराज्ञयेव"।।

यहाँ भी राम का ही उपमानत्व एवं उपमेयत्व दोनो ही है किन्तु दोनो ही उक्त उदाहरणों में द्वितीय सदृशनिषेध के तात्पर्य का अभाव होने से अनन्वयालंकार नहीं है। अब दीक्षित जी अपना अनन्वय का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं।

"स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः।।

यदि अनुगामी धर्म के आधार पर एकवस्तु की उपमा उसी वस्तु के साथ दी जाये तो वहाँ अन्वर्थक अनन्वय अलंकार होता है। दीक्षित के इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

---

१. चित्रमीमांसा पृा १७८
२. चित्रमीमांसा पृ० १५०

स्व का स्व के साथ विशेषण से "धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीः" इत्यादि उपमेयापमा के इस उदाहरण में तथा "भणितिरिव मतिः मतिरिव" इत्यादि रसनोपमा के उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निरसन हो जाता है। अनुगामी पद उपलक्षण परक है, उसी से दूसरे धर्म का ग्रहण भी शुद्धता पूर्वक ही है न कि अन्य मिश्रित रूप में। इसी अर्थ को ज्ञापित कराने हेतु ही लक्षण में "एकम" पद का समावेश है। कुलयानन्द के लक्षण की तुलना में चित्रमीमांसा का लक्षण अधिक परष्कृत और शुद्ध हैं।

"अन्वर्थनामधेयोऽयम!" इस विशेषण के समावेश से लक्षण का नियमन किया गया है। अर्थात् यदि "स्व के साथ स्व की उपमा यदि अनुगतैक धर्मवती हो तभी अनन्वय होगा अन्यथा नहीं।

भामह के लक्षण "यत्र तेनैव तस्य स्यात्" में असादृश्य विवक्षा के द्वारा अन्य उपमान का निराकरण किया गया है। इसकी दो मुख्य विशेषतायें – अन्य सदृश वस्तु या उपमान का निराकरण है।

दीक्षित जी का कहना है कि भामह के लक्षण में "तेनेव तस्य" विशेषण इसलिए रखा गया है क्योंकि "उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ" इत्यादि में अनुपमात्व द्योतन फल साम्य कल्पना वाली अतिशयोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो। यह अनन्वय अलंकार व्यंग्य भी होता है इसे अलंकार से पृथक करने हेतु दीक्षित जी का यह उदाहरण द्रष्टव्य है –

"अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः"![1]

१. चित्र.मीमांसा पृ० १५३

"गोविन्द! आज आप मेरे घर आये तो मुझे आनन्द मिला। जब कुछ समय उपरान्त आप पुनः मेरे घर आओगे तो पुनः मुझे वही आनन्द मिलेगा। व्यंग्यार्थ यह है कि आपके आगमन से उद्भूत आनन्द की तुलना किसी दूसरे के आगमन से उत्पन्न हुए आनन्द से नहीं हो सकती। यहाँ अन्य सदृश निषेध व्यंग्य है। इसलिए ऐसे स्थलों में अनन्वयालंकार की अतिव्याप्ति रोकने के लिए अव्यंग्य विशेषण को जोड़ दिया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ यहाँ व्यंग्य नहीं मानते हैं। वह श्री कृष्ण के दर्शन से उद्भूत आनन्द को अवर्णनीय बताते हैं और कहते है कि इसकी तुलना अन्यों से नहीं हो सकती है। उनके अनुसार व्यंग्य अनन्वय का उदाहरण इस प्रकार है:—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये नूनं धाता स विश्वकृत।
नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति जगतीतले ॥[1]

"मेरा विचार है कि विघाता ने तुम्हारा निर्माण करने के पश्चात् विश्वनिर्माण का कार्य समाप्त कर दिया है। तभी तो विश्व में तेरे-सदृश कोई सुन्दरी नहीं है।"

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, किन्तु भेदगर्भित सादृश्य का निषेध व्यंग्य है। अतः यहाँ व्यंग्य अनन्वय है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० १५४

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अनन्वयालंकार का स्वतन्त्र विवेचन किया हैं किन्तु सभी ने एकमत से उपमेय का उपमान उपमेय को ही स्वीकृत किया है। आलंकारिकों के बीच केवल दो ही भिन्नता है – असादृश्य विवक्षा या उपमानान्तर व्यवच्छेद अर्थात् अनन्वय की परिभाषा में एक ही पदार्थ को उपमेय तथा उपमान मानने के अतिरिक्त असादृश्य विवक्षा का भी सन्निवेश होना चाहिए। पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन "अद्य या मम गोविन्द" कृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता रूपी उपमेय का उपमान भी प्रसन्नता ही है। चाहे वह इस आगमन से हो अथवा उस आगमन से। अन्य सदृश वस्तु के अभाव का प्रदर्शन तो स्पष्ट ही है। अतः पण्डितराज का दृष्टिकोण भेद ही पार्थक्य का कारण हैं। अतः दीक्षित जी के अनन्वयालंकार की व्याख्या उचित ही है। पण्डितराज जी का खण्डन न्यायोचित नही है। अनन्वय की ध्वनि का उदाहरण यह है –

'पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसालमधुपेन।।'[1]

यहाँ पर "भेदेन" इस उक्ति से "अभेद में सादृश्य को पाया" इस प्रकार की अनन्वयात्मक ध्वनि सिद्ध होती है। अप्पय दीक्षित के मत को अपनी हठधर्मिता से विश्लेषित करने का किया गया प्रयास सहृदयग्राही प्रतीत नहीं होता है। अनन्वय में वस्तुतः चमत्कार किसका होता है ? इस चमत्कार का आधार क्या होता है ? इन सबका गहन विश्लेषण पण्डितराज की ही देन है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० २०६

स्मरणालंकार

दीक्षित जी ने सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यो का स्मरण लक्षण उद्धृत किया है –

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्वन्तरसमाश्रया।

स्मरणालंकृतिः सा स्यादव्यंग्त्वविशेषिता।।[1]

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु अर्थात वह फिर सदृश हो अथवा असदृश के विषय में हो वह स्मृति अव्यंगत्व विशेषण से युक्त हो अर्थात् व्यंग्य न हो तो स्मरणालंकार कहलाती है।

अर्थात् जब सादृश्य के आधार अन्य पदार्थ का स्मरण हो जाए और व्यंग्य न होकर वाच्य हो तो वहाँ स्मरणालंकार होगा उदाहरणार्थ –

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं

न स रूचिरकलापं वाणलक्ष्मीचकार।

सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे।।

रतिविगलितबन्धे केशपाशेप्रियायाः।।[2]

---

१. **चित्रमीमांसा पृ० १५६**

२. **रसगंगाधर पृ० २१८**

अथवा –

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः।

स्फुरविन्दचारूहस्ताम्।।

उद्वीक्ष्य श्रियमिव कांचिंदुत्तरन्तीम्,

अस्मार्षी जलनिधि मन्थनस्यशौरिः।।[1]

यहाँ दोनों में ही सादृश्य आधारित किसी दूसरी वस्तु की स्मृति होना समानरूप से प्राप्त है। इसलिए सदृश वस्तु और सदृश वस्तु सम्बन्धिनी अन्य वस्तु, दोनों का संग्रह करने के लिए ही वस्त्वन्तर पद का ग्रहण किया गया है।[2]

"सौमित्रे ननु सेव्यतां तरूतलं चण्डांशुरूजृम्भतें।

चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।।

वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगंयतः।

क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि ।।[3]

---

१. रसगंगाधर पृ० २१८

२. एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशधर्मिकास्मृतिः । इतरत्रसदृशदर्शनात्तत्सदृशीलक्ष्मीसम्बन्धिनी–जलनिधि –मन्थनस्य स्मृतिः। उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वनविशिष्टम्। अतएव सदृशासदृश साधारण्यर्थतया लक्षणे वस्त्वंतरग्रहणमर्थवत् । चित्रमीमांसा पृ० ५०

३. रसगंगाधर पृ० २१८

यहाँ स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है। अतः अलंकार्य होने से स्मरणालंकार का विषय नहीं है इस प्रकार की स्मृति के व्यावर्तन हेतु अव्यंग्यत्व विशेषण दिया गया है।[1]

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फुरुस्तथाम्भोधय–

स्तानेतानपि विभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।।

अश्चर्येण मुहर्मुहः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुवं–

स्तावाद्बिभ्रदियां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ।। रसगंगाधर २१८

यहाँ स्तुति किए जाते हुए भूभृत् 'राजा' से सम्बन्धित स्मृति सादृश्य पर आधारित नहीं है अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं होगा। स्मृति रूप संचारीभाव राजा विषयक रतिभाव का अंग होने के कारण प्रेयोलंकार का विषय है, अतः सादृश्यमूला विशेषण दिया गया है।[2]

दीक्षित के मत से वैचित्र्य चित्रालंकार का आधायक है, किन्तु कहीं–कहीं वैचित्र्यहीन स्थितियों में भी स्मरण अलंकार मानते हैं। जैसे –

पंकजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः ।[3]

यहाँ वैचित्र्य न होने पर भी दीक्षित जी ने स्मरणालंकार माना है, किन्तु यदि स्मृति व्यंग्य हो तब स्मरणालंकार नहीं होता है, जैसे –

"सौमित्रे ननु सेव्यतां तरूतलं चण्डांशुरूज्जृम्भते।

चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।।

वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगेयतः।

क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि ।।[4]

---

१. अत्र श्रुतकुरंगसम्बन्धिनस्तन्नयनस्यं स्मरणात् तत्सदृशीसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्बन्धि सीतास्मृतिश्चेति किन्त्वेषा व्यंग्या, अलंकार्यभूता च। तद् व्यावृत्यर्थमव्यंग्यत्वविशेषणम्।। चित्रमी० पृ० ५०

२. स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालंकारः। किन्तु स्मृतेः संचारीभावस्य भूभृद् विषयरतिभावांगत्वात्प्रेयोऽलंकारः। चित्रमी० पृ० ५०–५१

३. कुवलयानन्द पृ० २६

४. महानाटक ४–२३ चित्रमी० पृ०

इस विरहातुर राम की उक्ति में चन्द्रमुखी मृगलोचना, सीता की स्मृति व्यंग्य है, वाच्य नहीं। अतः यहाँ स्मरणालंकार न होकर स्मरण ध्वनि है।

पण्डितराज के मत से स्मरणालंकार यह है –

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणलंकार"।[1]

अर्थात सादृश्य विषयक ज्ञान से जागृत संस्कार से प्रयोजित स्मरण ही स्मरणालंकार होता है। यहाँ प्रयोज्य पद देने का तात्पर्य यह है कि यत्किंचिद् सादृश्य बोध से उद्बुद्ध संस्कार के द्वारा प्रयोजित सादृश्य के साथ स्मर्यमाण वस्तु का सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं है। जैसे –

एकीभवत्प्रलयकाल पयोधिकल्प–
मालोक्य संगरगतं कुरूवीरसैन्यम्।।
सस्मारतल्पमहिपुंगवकायकान्तं,
निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः।।

यहाँ समुद्र और योगनिद्रा तथा शेषशैय्या का वस्तुतः कोई आपातित सम्बन्ध न होते हुए भी समुद्र सादृश्य तल्पनिद्रा के प्रयोजक होने के कारण स्मरणालंकार है।

पण्डितराज ने दीक्षित के लक्षण की कटु आलोचना की है जो कि निम्नवत् है–

वस्त्वन्तर– पण्डितराज ने इसे अस्मणीय बताया। वे कहते हैं कि "सदृश और असदृश जलनिधि और केशपाश के लिए 'वस्त्वन्तर' का कथन व्यर्थ है क्योंकि सादृश्यमूला स्मृति स्मरणालंकार है। इतना कहने भर से ही, केशपाश की स्मृति के समान जलनिध मन्थन की स्मृति का भी ग्रहण हो जाता है। मूलतः दोनो ही सादृश्याधारित ही हैं।

---

१. रसगंगाधर पृ० २१६

अव्यंग्य— इसी प्रकार पण्डितराज के मत से "सौमित्रे ननु" पद्य में स्मृति को व्यंग्य और अलंकार्य कहना भी उचित नहीं है। स्मृति अलंकार्य नहीं है अपितु विप्रलम्भ की उपस्कारिका होने से अलंकार है। व्यंग्य होते हुए भी अप्रधान रूप से अलंकार का विषय हो सकता है।

"अत्युच्चापरितः" में जो स्मृतिरूप व्यभिचारीभाव राजविषयक रति का अंग है। वह प्रेयोलंकार है यह भी ठीक नही है क्योंकि प्रेयोलंकार वहीं होता है जहाँ एक दूसरे भाव का अंग होता है। यहाँ स्मृति भाव नहीं है। कारण यह कि स्मरतः पद से उसका अभिधान हो गया है इसमें मम्मटाचार्य का "व्यभिचार्यंचितो भावः प्रमाण है।[1]

अलंकारसर्वस्वकार का यह कथन भी प्रमाण है कि "जिस स्मृति का उद्भव सादृश्य के अतिरिक्त किसी कारण से होता है वही स्मृति प्रेयोलंकार का विषय बनती है।"

यह स्मृति यदि शब्दतः कथित हो जाये तो प्रेयोलंकार का विषय नहीं होती है जैसे –

अत्रानुगोदं मृगया निवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।

रहस्त्व दुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्।।[2]

सादृश्यमूलक होने के कारण उपमा के समान ही समानधर्म के आधार पर इस अलंकार के विभिन्न भेद सम्भव प्रतीत होते हैं । उदाहरणार्थ–

१. **अनुगामी धर्म का उदाहरण –**

सन्त्येवास्मिन्जगति वहवः पक्षिणो रम्यरुपाः –

स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।

यैरध्यधैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः

स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रहम कृष्णाभिधानम्।।[3]

---

१. काव्य प्रकाश पृ० ६४

२. रसगंगाधर पृ० २२०

३. रसगंगाधर पृ० २०८

यहाँ श्यामत्व रूप धर्म अनुगामी है।

२. **विम्बप्रमिबिम्बभावयुक्त साधरणंधर्म का उदाहरण –**

मुजप्रमितपदि्शोद्दलित दृप्तदन्तावलं,

भवन्तमरिमण्डलकथन पश्यतः संगरे।।

अमन्दकुलशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचले,

न कस्य हृदयं झगित्यधिरूरोह देवेश्वरः।। [1]

यहाँ भूघर और दन्तावल में विम्बप्रतिबिम्ब भाव है।

३. **उपचरित धर्म होने पर –**

क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते।

को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम्।। [2]

उक्त में मृदुत्व धर्म आरोपित हैं।

४. **केवल शब्दात्मक जैसे –**

ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन।

आरोहति स्मृतिपथं तदेव भगवान् मुनिव्यासः।।

---

१. रसगंगाधर पृ० २२४
२. रसगंगाधर पृ० २२४

इसमें 'भ्रमरहित' होना व्यास और बसन्त के प्रति साधारण धर्म है। इसके अतिरिक्त वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य भेद भी विचारणीय है।

यही अलंकार यदि प्रधानरूप से व्यंग्य होता है तो ध्वनि का विषय बन जाता है जैसे—'इदं लताभिः .... हृदयं हरेयुः" यहाँ स्मरण व्यंग्य है।

स्मरणालंकार में सादृश्य सदा व्यंग्य रहता है। अतः उस सादृश्य का शब्दशः कथन होना इस अलंकार का प्रमुख दोष है। जैसे—

उपकारमस्य साधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य

दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः।।[1]

यदि यहाँ "नव घनश्यामः" की जगह "निवेद्यते देवकीतनयः कह दिया जाये तो दोष दूर हो जायेगा।

पण्डितराजकृत दीक्षित का प्रथम खण्डन युक्तिसंगत है, क्योंकि सादृश्यमूला कहने से सदृश एवं असृदश दोनों का ग्रहण हो जाता है। कारण यह कि मूलतः असदृश वस्तु का भी स्मरण सदृश दर्शन पर आधारित होता है।

"सैमित्रे' इत्यादि के उदाहरण में स्मृति को अप्रधान कहकर अप्पयदीक्षित का मत दूषित करना अन्याय ही है। एवं च अव्यंग्यत्व विशेषण भी इसलिए निरर्थक कहना चाहिए क्योंकि अलंकार सामान्य के लक्षण में ही उसका कथन हो गया है, अनुचित है क्योंकि इस पुनरुक्ति से व्यंग्यत्व का विशेष रूप से निषेध होता है। उसका विधान होने से मुख्य शर्त के रूप में वही ज्ञात होता है। अतः उसमें कोई दोष नहीं हैं।

---

१. रसगंगाधर पृ० २२२

तीसरी युक्ति 'अत्युच्चाः परितः में स्मृतिभाव नहीं है, संचारी भाव है क्योंकि वह वाच्य है। यह सब केवल जातिगत विद्वेष से प्रेरित होकर कहा गया लगता है। अप्पय के कथन में मुख्य विषय प्रेयोलंकार का नही है, अपितु भूमृत् की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है, अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं है।

पण्डितराज ने सिंहशशक न्याय के आधार पर बिना किसी युक्ति संगत आधार के दीक्षितीय मान्यता को दोषी सिद्ध किया है। विवेचन और विश्लेषण के दृष्टिकोण से महत्वहीन विषय को भी पण्डितराज ने अपने दर्पतोष हेतु विवेचित और विश्लेषित किया है। अपने अभिमान में पण्डितराज यह भी भूल जाते हैं कि इस शास्त्रार्थ में बल है या नहीं। स्मरण के कुछ भेदों का उल्लेख उनकी अन्यो से भिन्नता सिद्ध करती है।

षष्ठ अध्याय
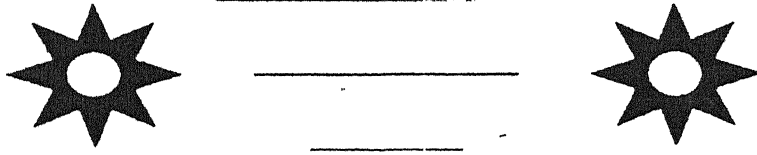
आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा

रूपक

अभी तक पूर्व में जो भी अलंकार निरूपित किए गये वे सादृश्याधारित भेद प्रधान थे। अब अभेद प्रधान अलंकारों का निरूपण प्रारम्भ करते हुए रूपक आदि अलंकारों को उस कोटि में रखा गया है। इस कोटि के सभी अलंकारों में दो पदार्थो में अभेद समानरूप से विद्यमान रहता है और उसी अभेद का नाम रूपक है। वह रूपक अलंकार तब बनता है जब किसी इतर का उपस्कारक होता है।

पण्डितराजकृत रसगंगाधर में इसका लक्षण यूं वर्णित है "उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमा, न तादात्म्यं रूपकम् ।तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलंकारः। [1] अर्थात् उपमेयतावच्छेदक के पुरस्कार से उपमेय में उपमान का शब्द द्वारा निश्चित किया गया अभेद (ताद्रूप्य) रूपक है। उसी 'रूपक' के उपस्कारक होने पर रूपकालंकार होता है। उदाहरणार्थ 'मुखंचन्द्रः इस उदाहरण में मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। मुख का मुखत्वेन उपादान कर चन्द्र का अभेदवर्णन ही रूपक हैं। इस अभेद प्रदर्शन की प्रतीति कहीं शब्द द्वारा कहीं विशेषण – विशेष्य के प्रतिशब्दार्थ के रूप में होती है।

---

१. रसगंगाधर पृ० २२५

उपर्युक्त लक्षण का विश्लेषण करने पर अपह्नुति भ्रान्तिमान, अतिशयोक्ति और निदर्शना के निरसन हेतु ही, लक्षण में 'उपमेयतावच्छेदक पुरस्कारेण' विशेषण रखने से इसकी सार्थकता है। अर्थात इन सब में उपमेय का उपमेयरूप से कथन का निषेध होता है।

'शब्दात्' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि 'मुखमिदं चन्द्रः' इसका निरसन हो जाता है क्योंकि यहाँ रूपक का स्थल नहीं है अपितु कल्पनाजन्य अभेद निश्चय है तथा वह प्रत्यक्ष है।

'निश्चीयमान' विशेषण के रख देने पवर सम्भावना रूप "नूनं मुखं चन्द्रः" इस उत्प्रेक्षा के अभेद का निरसन हो जाता है। उपमान और उपमेयें इत्यादि विशेषणों से "सुखं मनोरमा रामा" इत्यादि शुद्धारोप के विषयभूत तादात्म्य का निरसन हो जाता है।

अतः शब्द के द्वारा निश्चीयमान सादृश्यमूलक जो उपमान तादात्म्य है, वह रूपक है। सादृश्यमूलक आरोप कहने में मम्मट और दण्डी की उक्तियां भी प्रमाण हैं। मम्मट के अनुसार "तद्रूपकमभेदो या उपमानोपमेययोः"[1] तथा दण्डी की अनुसार, "उपमेय तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते"[2] कहकर रूपक का लक्षण किया गया है। मम्मट के अनुसार उपमान और उपमेय में जो भेद होता है वह रूपक है। इसका पण्डितराज ने जबर्दस्त खण्डन किया है। वे इसे अनुचित ठहराते हुए निम्न तर्क देते हैं ।

१. उपमान और उपमेय के अभेद की प्रतीति निर्विवाद रूप से होने के कारण अपहनुति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

२. अगर यह कहें कि उपमानतावच्देदकावच्छिन्न के साथ उपमेय का अभेद होने से अपहनुति में 'उपमेयतावाच्छेद' विशेषण का ग्रहण नहीं होता अतः विशेषण सार्थक है तो भी 'नूनं मुखं चन्द्रः' इस उत्प्रेक्षा में उस भी अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि मुखत्वरूप उपमेयतावच्छेदक के सम्मुख रखकर चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र का भेद स्पष्ट ही है।

---

१. काव्य प्रकाश पृ० ३५७
२. रसगंगाधर पृ० २२५

३. यदि यह कहें कि "प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुतिः" और "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यसमेन यत" यहाँ अपहनुति ओर उत्प्रेक्षा के लक्षणों से विशेष कथन होने से रूपक के लक्षण द्वारा सामान्य रूप से कह गये अभेद का वारण हो जाता है । जैसे "ब्राहमणेभ्यो दधिदेयम्" इसके समान ही अपहनुति, उत्प्रेक्षा आदि रूप विशेष विधानस्पकरूप सामान्य विधान के व्यावर्तक है अतः यहाँ अतिव्याप्ति नहीं है।

शोभाकर मित्र के मत में – जहाँ भी इस प्रकार वर्णन हो कि दो भिन्न वस्तुओं की एक ही स्थान में स्थिति हो वहाँ रूपक होगा। ऐसा शोभाकर मित्र का कहना है। प्रचीनालंकारिकों का कहना है कि उपमान और उपमेय का ही अभेद रूपक होता है, कार्यकारण का नहीं, केवल दुराग्रह मात्र है।[1]

किन्तु पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि यदि दो भिन्न वस्तुओं का एक स्थान पर होना मात्र ही रूपक माना जाय तो अपहनुति आदि में भी रूपक मानना पड़ेगा।

विद्यानाथ ने इसकी प्रस्तुति इस प्रकार की है--

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिणः।

उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम्।।

---

१. सादृश्यप्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्य निर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणमूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्यं तादात्म्यस्येसम्बन्धान्तरप्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य संग्रहीतुमौचित्यात्। तस्मात् दुराग्रह एवायं प्राचाम् उपमानोपमेयो र भेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयोः।" रसगंगाधर पृ० २५५

प्राचीनों के इस निर्दुष्ट लक्षण में दीक्षित जी ने निम्न दोष निकाले हैं–

कुछ लोग "आरोप विषयस्य" के दो मत लेते हैं – विषय और विषयी से अभिहित उन दोनो के अभेद की प्रतिपत्ति ही आरोप है। तथा विषय अर्थात उपमेय के निगरण से विषयी के अभेद प्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यगण तादृरूप्य प्रतिपत्ति को आरोप मानते हैं और उसके अभेद प्रतिपत्ति को अध्ययवसाय ।

अब प्रथम मत को स्वीकार किया जाये तो आरोप विषय का इससे उत्प्रेक्षा की व्याब्रत्त स्वीकार करना पड़ेगा। और उत्प्रेक्षा की आरोपमूलत्व से वहाँ अतिव्याप्ति है ही। दूसरे मत को अंगीकार करने पर "मुखं चन्द्रः" इत्यादि में चन्द्र का जो 'रुपचन्द्रत्व' है उसी के द्वारा मुख की रूपवत्ता की प्रतीति से प्रसिद्ध चन्दमा से अभेद के अभाव से लक्षणा का समन्वय होगा। मुख विषय से 'चन्द्रः' इत्यादि अतिशयोक्ति में उन दोनों के अभेदत्व से अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ वैपरीत्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैपरीत्य से तात्पर्य है रूपक में अभेद की प्रतिपत्ति।

अतिशयोक्ति तादृप्य की प्रतिपत्ति भी कह सकते हैं। वहाँ भी उसकी कल्पना में भी विनिगमों का अभाव वहाँ प्रसिद्ध चन्द्रादि के अभेद प्रतिपत्ति के अभाव में भी उपात्तकल्पित जो अन्य चन्द्रादि हैं उसकी अभेद प्रतिपत्ति तो यहाँ हैं। इस शंका का समाधान करते हैं – कल्पित अपर चन्द्रादि के अभेद सिद्ध रूपक में भी यदि ऐसा कहेंगे तो लक्षण का असंभव दोष स्पष्ट होगा। इसलिए दोनों पक्षो में भी आरोप विषयस्य यह विशेषण दोष युक्त ही हैं।

अतिरोहितरूपिणः यह विशेषण भी कम है। क्योंकि संदेह और भ्रान्तिमान में इससे यद्यपि अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो जाता है फिर भी अपह्नुति अलंकार में इस विशेषण से अतिव्याप्ति दोष का निरसन संभव ही नहीं है।

अप्पयदीक्षितकृत लक्षण–

विम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरज्जंकतामेति विषयी रूपकं तदा ।।[1]

अर्थात विम्बप्रतिबिम्ब भाव से रहित शब्दतः उपात्त् अनिह्नुत विषय में जब विषयी का कल्पित अभेद हो तो रूपक होता है। इसका विश्लेषण निम्नवत् है –

१. विम्बाविशिष्टे – इस विशेषण से यहाँ –

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः।।[2]

इत्यादि निदर्शना के उदाहरण में अतिव्याप्ति चन्द्र और नख में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से नही है।

२. निंदष्टे विशेषण से अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय का **विषयी** के साथ निगरण होता है। इस विशेषण से व्यंग्यरूपक में भी अति प्रसंग वारित हो जाता है **क्योंकि** व्यंग्य होन पर भी वहाँ विषय का निर्देश रहता ही है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० २१२

२. **विम्बाविशिष्ट इति विशेषणात्** "त्वत्पादनखरत्नानाम्" इति निदर्शनायाम् अतिव्याप्ति

३. अनिह्नुते – अपहनुति में रूपक का लक्षण संगत नहीं, होता है। अनिहनुते का तात्पर्य है कि जिसका निषेध न किया जाये। निषेध और अपहनुति में विषय का निर्देश रहता है परन्तु वह निषिद्ध रहता है।

४.उपरजंकतामेति – अर्थात "कल्पित अभेद्य की निश्चयता को प्राप्त करता है।"

यह कहने से ससन्देह, उत्प्रेक्षा समासोक्ति, परिणाम, भ्रान्तिमान आदि में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यही रूपक जब अव्यंग्य होता है तो अलंकार होता है।[१]
पण्डितराज ने इसका सयुक्तिक खण्डन किया है– 'बिम्बाविशिष्टे' विशेषण देने से त्वत्पादनखरत्नानां इत्यादि निदर्शना के उदाहरणों में अतिव्याप्ति नहीं होती। पण्डितराज के मतानुसार यह कहना ही व्यर्थ है क्योंकि इस उदाहरण में रूपक है, न कि निदर्शना। यहाँ पण्डितराज ने श्रौतारोप रूपक स्वीकार किया है। इस पर विशद विवाद रसगंगाधर में द्रष्टव्य है।[२] अप्रसांगिक होने के कारण यहाँ दिया जाना उचित नही है।

गलितार्थ यह है कि जहाँ दीक्षित जी ने इस उदाहरण में निदर्शना माना वहीं पण्डितराज ने इसमें रूपक अलंकार स्वीकार किया है। अतः उसके वारणार्थ इस विशेषण की कोई आवश्कता ही नही है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ५६, ५७
२. रसगंगाधर पृ० २२६, २२७

निर्दिष्टे प्रयोग से दो दोष होते हैं – १. अतिशयोक्ति में अभिव्याप्ति २. अनिह्नुत और आहार्य विशेषणोंकी व्यर्थता। अतः यह विशेषण भी व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त निश्चय के लिए दिया गया आहार्य विशेषण की भी कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी।

अपने लक्षण की पुष्टि के पश्चात् दीक्षित जी ने जो यह बात कही है कि 'अव्यंग्य' विशेषण देने से वही रूपक अलंकार का लक्षण हो जायेगा–वह भी अनुचित है।

क्योंकि व्यंग्य होने से अलंकार होने में कोई बाधा नहीं होती है। शर्त सिर्फ इतनी है कि वह व्यंग्य अलंकार प्रधान न हो। प्रधान होने पर वह उपस्कार न होकर उपस्कार्य हो जायेगा।

<u>रूपक के भेद :</u> रूपक आठ प्रकार का होता है। प्रथमतः वह तीन प्रकार का होता है

१. सावयव

२. निरवयव

३. परम्परित

सावयव रूपक पुनः २ प्रकार का होता है १. समस्त वस्तु विषय २. एकदेश विवर्ति रूपक। निरवयव रूपक के दो भेद होते हैं – १. केवल निरवयव २. मालारूप निरवयव रूपक। परम्परित रूपक के पहले दो भेद होते हैं १. श्लिष्ट २. शुद्ध। पुनः श्लिष्ट रूपक के दो भेद होते हैं। १. केवल २. माला। इसी प्रकार शुद्ध परम्परित रूपक के दो भेद होते हैं १. केवल २. माला। इसे इस तालिका से भी समझा जा सकता है।[1]

---

१. रसगंगाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ० १८२

अब इनका एक–एक करके विस्तृत विवेचन अपेक्षित है जो कि अग्रलिखित है

सावयव रूपक : – " परस्पर सापेक्ष निष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्" अर्थात परस्पर सापेक्ष रूप से निष्पन्न होने वाले रूपकों का समूह 'सावयव रूपक होता है।[1]

क. समस्त वस्तु विषयक – "समस्तानि वस्तुन्यारोपमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम्" अर्थात जहाँ सभी आरोप्यमाण वस्तुएं उपमान शब्द से कथित हो वहाँ समस्त वस्तु विषय वाला भेद रूपक होता है।[2] उदाहरणं यथा –

सुविमल मौक्तिकतारे धवलांशुक चन्द्रिका चमत्कारे,
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः ।।[3]

इस पद्य में मुक्तावली, तारावली, धवल वस्त्र और चन्द्रिका मुख और पूर्णचन्द्र इन सभी में रूपक है तथा परस्पर सापेक्ष है। समस्त रूपको में उपमान का ग्रहण शब्दतः किया गया है । अतः यह समस्त वस्तु विषयक है ।

ख – एकदेशविवर्ति सावयव रूपकः – " एकदेशविवर्ति यत्र व क्वचिदवयवेशब्दोपात्तमारोप्यमाणंक्वाच्चिार्थसामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके "अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेनवर्तनादेकदेशविवर्ति" [4]

---

१. रसगंगाधर पृ० २३१
२. रसगंगाधर पृ० २३१
३. रसगंगाधर पृ० २३१
४. रसगंगाधर पृ० २३१

अर्थात् जहाँ कुछ आरोग्य माण अवयव "अंग" शब्दों से उपस्थिति हो और कुछ अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त किये जाये तो वहाँ उस अवयवभूत एक देश में, जिसमें विष्य शब्द से उपात्त रहता है। विवर्तन के कारण (विरूद्ध रूप से रहने के कारण) अर्थात् स्वरूप गोपन करके अन्यथात्वेन वर्तमान रहे वहाँ एकदेश विवर्ति रूपक अलंकार होता है।

उदाहरणं यथा –

भवग्रीष्मप्रौढ़ातपनिवहसन्तप्तवपुषो,

बलादन्यूत्यादांग निंगडमविवेकव्यतिकरम्

बिरूद्धेऽस्मिन्नात्मा भृतसरसिनैराश्यशिशिरे,

विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः।। [1]

इसमें निगडादि वर्णित रूपकों से सुकृतियों में गज का अभेद भी आक्षिप्त हो जाता है अतः एकदेशविवर्ति है।

निरवयव रूपकः– "बुद्धिर्दीपकला लोके यथा सर्वं प्रकाशते।

अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किंच्चिन्न भासते।। [2]

यहाँ दो रूपकों को एक साथ अनांकांक्षित होने पर भी निरवयव रूपक है। यहाँ बुद्धि का दीपक के साथ एकरूपक तथा बुद्धि का रात्रि के साथ दो रूपक स्वतंत्र हैं। एक के बिना दूसरे की अरिद्धि नहीं है । अतः निरेपक्ष होने से निरवयव है और मालात्मकता के अभाव में केवल निरवयव है।

---

१. रस गंगाधर पृ० २३२

२. रसा गंगाधर पृ० २३३

मालानिरवयव :– धर्मस्यात्मा भागधेयं क्षमायाः सारः सृष्टेर्जीवितं शारदायाः,

आज्ञा साक्षात् ब्रह्मणो वेदमूर्तेराकल्पान्तं राजतामेष राजा।।[1]

उक्त उदाहरण में एक ही विषय पर नानाविध पदार्थों का आरोप होने से यह माला रूप है तथा परस्पर आकांक्षा न होने से निरवयव है।

परम्परित रूपक :– "यत्र आरोपएवारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परंपरितम्, तत्रापिसमर्थकत्वेनविवक्षितस्यारोपस्यश्लेषमूलकत्वेश्लिष्टपरपरितम्।"[2]

अर्थात् जहां एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ पर परम्परित रूपक होता है। उसमें भी समर्थक रूप से अभिप्रेत आरोप श्लेष मूलक होता है तब वह श्लिष्ट परम्परित कहलाता है।

केवलश्लिष्ट परम्परितः– "अहितापकरणभेषजनरनाथ ....मेदिनीं चरतः।"[3]

यहाँ "अहितापकरण" में सभंग श्लेष है।

मालारूप श्लिष्ट परम्परित :– जैसे – "कमलावासकासारः ....मानवान् ।"[4]

इसमें कमला का वास है, कमलों का आवास है, तत्कृत का सार इस प्रकार सर्वथा परम्परित है।

---

१. रस गंगाधर पृ० २३३

२. रस गंगाधर पृ० २३३

३. रस गंगाधर पृ० २३३

४. रस गंगाधर पृ० २३३

शुद्ध परम्परित का केवल रूप :–

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्तिके वा पुरस्ताद् ।

x x x

x x x

मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरूचिस्त्वत्कृपाणोभुजंगः ।।[1]

यहाँ भुजंग का आरोप दुग्धारोप के प्रति सामर्थ्य रूप से कार्य का अभिप्रेत है।

शुद्ध परम्परित माला रूपक :–

प्राचीसन्ध्यासमुद्यन्महिमदिनमणेमनि .... शेणिमश्रीः ।।[2]

यहाँ श्लेषाभाव के कारण यह शुद्ध है तथा प्रतापादि में सूर्य के आरोप के कारण अरूणता की शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थो का आरोप हुआ है। अतः माला रूप है।

सावयव और परम्परित रूपक मे भेदः–

जहाँ सावयव रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का उपाश्रय होता है वही परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण होता है। इसी सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि सावयव में जहाँ दो से अधिक आरोपों का समूह होता है वहीं परम्परित रूपक में मात्र दो ही आरोप होते हैं। पण्डितराज ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है। अभी तक जो भी भेद गिनाये गये वे सभी पदार्थ रूपक के भेद हैं अर्थात उन सबमें एक पदार्थ में दूसरे का आरोप है। अन्य आधार पर भी इसके भेद इस प्रकार हैं।

---

१. रस गंगाधर पृ० २३४

२. रस गंगाधर पृ० २३४

वाक्यार्थ रूपक :–

जिसमें सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही उपमेय हो और उस पर किसी अन्य वाक्यार्थ का आरोप किया जाये तो वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है। यथा –

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।

क्षालनं भास्करस्येदं सरसैः सलिलोत्करैः।।[1]

यहाँ निर्मलीकरण में क्षालन का आरोप रूप प्रधान रूपक जिस प्रकार वाच्य है उसी प्रकार बिम्बभूत आत्मा, तप, दान आदि में प्रतिबिम्बभूत भास्कर सलिलोत्करादि का आरोपरूप अंगभूत रूपक व्यंग्य है।

साधारण धर्म के आधार पर रूपक के भेदः–

रूपक का साधारण धर्म भी उपमा के ही समान कही अनुगामी कहीं विम्बप्रतिविम्बभाव युक्त कही उपचरित और कहीं केवल शब्द रूप होता हैं। कही शब्दतः कथित रहते हैं और कही अकथित होने से प्रतीयमान होते हैं।

अनुगामी धर्म शब्दतः उपात्त जैसे –

जडानन्धान्पंगून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकला –

न्ग्रहग्रहस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्।

निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तनिर्पततो,

नरानम्ब त्रातुं त्वमिहपरमं भेषजमसि ।।[2]

---

१. रस गंगाधर पृ० २३८

२. रस गंगाधर पृ० २४३

यहाँ "त्रातुम्" तुमुन्नन्त पद से उपात्त जडान्धादि का भावरूप साधारण धर्म भेषज और भागीरथी में अनुगामी है।
अनुगामी के अयुक्त रहने पर –

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपित–,
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां।
सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु।।[1]

इसमें सौभाग्य और भागीरथी में स्वभाव से ही व्यापक दुर्भाग्यत्व और परमोत्कर्षाधायकत्व आदि अनुपात्त हैं। अतः इसके कारण प्रतीयमान धर्म है।
उपचरित होने पर जैसे –

अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बु निधिर्यशो विमलशारदचन्द्रिरचन्द्रिका।।[2]
यहां अम्बु निधि आदि में गाम्भीर्य आदि का शब्दतः कथन नही है।

केवल शब्दात्मकः–

अंकितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः।।[3]

हेतुरूपकः –

साधारण धर्म के युक्ति रूप से कथित होने पर हेतु रूपक होता है जैसे –
पंचशाखः प्रभोयस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथानेन पूर्यन्ते कथं सर्के मनोरथाः।। [4]

रूपकध्वनि :–

उक्त अभेद के प्रधान रूप से व्यंग्य होने पर रूपक ध्वनि रूप होता है जैसे–
<u>शब्दशक्तिमूल ध्वनि यथा –</u>

अविरल विकलद्वेदानोदकधारासारसिक्त धरणितलः।
धनदा ग्रामहितमूर्तिर्देवत्वं सार्वभौमोऽसि।। [5]

यहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों में ध्वनि है।

---

१. रस गंगाधर पृ० २४३
२. रस गंगाधर पृ० २४४
३. रस गंगाधर पृ० २४४
४. रस गंगाधर पृ० २४४
५. रस गंगाधर पृ० २४६

अर्थशक्तिमूल :–

तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं, ।
तिरयन्ति तापमय तापशालिनाम्।
वदनात्विषस्तव चकोरलोचने,।
परिमुद्रयन्ति सरसीरूहश्रियः।।[1]

इस पद्य मे रूपक कुमुदाविकास आदि से ध्वनित होता है।

रूपकगतदोषः–

यहाँ भी कवि सम्मति के विरुद्ध चमत्कारापकर्षक लिंग भेद आदि दोष होते हैं।

बुद्धिरब्धिर्महीपाल यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्काल चारूचन्दिरचन्द्रिका ।।[2]

यहाँ विषय और विषयी में लिंगादि का वैलक्षण्य उनके अभेद बोध के प्रतिकूल हैं। कहीं यह दोष नहीं भी होता है जैसे –

सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदनं तव चन्द्रमाः।

समीक्षोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपमा के अनन्तर सर्वोत्कृष्ट समन्दृत अलंकार यदि है कोई तो वह है रूपक। रूपक का अर्थ अभेद मानने में किसी को कोई भी दुराव नहीं हैं। हाँ वह अभेद किस–किस में हो तथा किस प्रकार का हो इसे लेकर विद्वानों मे सूक्ष्म मतभेद भले ही हों।

रूपक के स्वरूप और भेद को लेकर पण्डितराज ने किसी न्यूनता को जन्म नही दिया किन्तु जिस सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक अंश को विश्लेषित करते हुए निष्कृष्ट सिद्धान्त मूलतत्व को पुरस्कृत करते हुए निर्मल रूप में प्रस्फुटित किया वही इनकी प्रतिष्ठा का कारण बना। एक तरफ रूपक को सादृश्य मूलक प्रमाण मानने मे जहाँ मम्मट को प्रमाण माना वहीं तुरन्त उनके लक्षण का खण्डन करके आलोचक भी हो गये।

जहाँ तक दीक्षित के खण्डन की बात है वह पण्डितराज ने यत्र तत्र सर्वत्र

---

१. रस गंगाधर पृ० २४६

२. रस गंगाधर पृ० २४६

दीक्षित जी का खण्डन, खण्डन – बुद्धि से ही किया है। दीक्षित जी के विशेषणों का खण्डन करते समय विम्बाविशिष्टे विशेषण का खण्डन मुख्य रूप से न करके एक विशेष उदाहरण में निदर्शना है कि नहीं इस पर तर्क करने लगे। अंत में इस पद्य में कुछ परिवर्तन करके निर्दशनानुकूल बनाकर बात को समाप्त किया। पण्डितराज एक बार नहीं अनेको बार इस दोष से ग्रस्त दिखलाई पड़ते हैं। यही कारण है कि रसगंगाधार की गुरूमर्मप्रकाश टीका में नागेश भट्ट जी ने पण्डितराज के मत को दोषी बताकर दीक्षित जी के मत का ही समर्थन किया।[1] अतः दीक्षित जी का ही मत रमणीय है। उसका पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन बुद्धि विलास मात्र है और कुछ नहीं।

---

१. आहार्यत्व विशेषणस्य निर्दिष्टे इति विशेषणलब्धार्थ कथन तात्पर्यकत्वात्। अतिशयोक्तौ लक्षणमाहात्म्याज्जायमानज्ञानस्यानाहर्यस्यैव जायमानत्वेन तावतैव वारणात् शक्यतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोयर्निर्मित त्वल्लिखितमतान्तरेऽपि युगपदेवोभयोर्भानेन वाअस्यवानुपस्थितत्वान्न तद्बुद्धेराहार्यत्वम्। किंच चन्द्रवृत्ति गुणत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदक चन्द्रत्वस्य च मिथो विरोधाभावेन न वाधप्रतिसन्धानम्। मुखत्वेन मुखं लक्ष्यत इति त्वश्रद्धेयमेव। रूपके तु वाधस्य रफुटमुपस्थितत्वेन साक्षात् व्यञ्जनया वा जायमाना तांद्रूप्यप्रतिपत्तिरार्थेवेति दीक्षिताशय इति दिक्। रस० (गुरू मर्म०) पृ० २२८

परिणाम अलंकार

संस्कृत के अलंकार शास्त्र में परिणाम अलंकार का भिन्न दो पद्धतियों पर विवेचन हुआ हैं। एक का आधार सामानाधिकरण्य है तो दूसरे का वैयधिकरण्य। सामानाधिकरण्य में विषयी और विषय में विभक्ति भेद नहीं होता है। वहीं दूसरी ओर वैयधिकरण्य मे विषयी और विषय में विभक्ति भेद होता हैं। इस अलंकार की प्रथम उद्भावना का श्रेय आचार्य रूय्यक को हैं। काव्य प्रकाश की उद्योत् भामक टीका में नागेश तथा विश्वेश्वर ने अलंकार कौस्तुभ में इसके स्वतंत्र अस्तित्व का खण्डन किया किन्तु वे असफल रहे।

अर्थ चित्रोपरकारक अलंकारों में परिणाम का भी महत्व न्यून नहीं है। इसके विवेचन में श्री दीक्षित जी अलंकारसर्वस्कार रूय्यक के मत को सामने रखते हैं –

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।"[1]

अर्थात् यदि उपमान प्रकृतकार्य का उपयोगी हो तो परिणाम अलंकार होता है पक और परिणाम का मुख्य भेद यह है कि रूपक मे उपमान उपमेय पर आरोपित होता है और "परिणाम में उपमान के रूप में उपमेय परिणत हो जाता है। परिणाम में आरोप्यमाण की सार्थकता उपमेय के रूप में होती है। उपमान के रूप मे नहीं और रूपक में वह उपमान के ही रूप में ही सार्थक रहता है। केवल उपमेय से अभिन्न रहता है।[2]

पण्डितराज ने रूय्यक के उक्त मत का खण्डन किया है कि उसमें अनौचित्य को सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम जो युक्ति दी वह यह है कि लक्षण में <u>आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग</u> कहने से वास्तव में तात्पर्य क्या है? प्रकृत कार्य को आरोप्यमाण का उपयोग

१– चित्र मीमांसा पृष्ठ – १६१
२– अलङ्.कार सर्वस्व पृष्ठ – ५३

अथवा प्रकृत विषय उपमेय के रूप में आरोप्यमाण का उपयोग? यदि प्रथम तात्पर्य को माने तो अलंकार सर्वस्व में दिए गये रूपक के उदाहरण में परिणाम अलंकार का लक्षण चला जाता है। जैसे --

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां,
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये।।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरंकण्टग्रै –
र्यत्खिद्यते तवपदं ननु सा व्यथा मे ।।[1]

यहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है । यदि द्वितीय अर्थ को स्वीकार करें तो इस उदाहरण में--

"अथ पंक्तिमतामुपेयिवद्भि .... तत्परतस्तुरंगमाद्यैः।।[2]

यहाँ इस व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण में लक्षण की असंगति हो जायेगी । अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा में विद्याधर के दिये गये उदाहरण को दोष सिद्ध किया और वहीं पण्डितराज ने उसे न्यायोचित ठहराया। विद्याधर का श्लोक निम्नवत् है।

नरसिंह ! धरानाथ के वयं तव वर्णने।
अपिराजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते।।

यहाँ विद्याधर ने "राज" पद से चन्द्ररूप विषय की उपस्थिति को स्वीकार किया है तथा आरोप्यमाण विषयी का आकमण रूप कार्य में उपयोग होता है। अतः इस प्रतीति के कारण परिणाम अलंकार यहाँ व्यंग्य होता है, किन्तु दीक्षित के मतानुसार यहाँ आरोप्यमाण नृप का नृपत्वेन ही आकमण के प्रति उपयोग है, चन्द्रत्वेन नहीं।[3]

१– अलङ्कार सर्वस्व पृष्ठ – ६४

२– चित्रमीमांसा पृष्ठ – ६८

३– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २४८

इस का खण्डन करते हुए पण्डितराज ने कहा कि विषयी के रूप में व्यंग्यमान नृप का भी चन्द्रात्मना ही उपयोग होता है अर्थात विषय रूप में ही विषयी का उपयोग होता है अतः विद्याधर के उक्त उदाहरण में कोई दोष नहीं है ।

पण्डितराज के मतानुसार परिणामालंकार का निम्नलक्षण है -

"विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः[1] अर्थात् जहाँ विषयी विषयतया ही प्रकृत का उपयोगी होता है। वहीं परिणाम होता है । परिणाम अलंकार में विषयी में विषय का अभेद होता है जबकि रूपक में विषम में विषयी का अभेद होता है। अतः दोनो परस्पर पृथक – पृथक हैं, एक नही हैं। उदाहरणार्थ –

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ,
मम् भ्रमं भ्रामं विगलितविरामं जड़मतेः ।।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीर निलयः
समन्तात्सन्तापं हरिभवतुमालस्तिरयतु ।।[2]

इस उदाहरण में तमाल है विषयी और भगवान् है विषय। तमाल की उपयोगिता उसको हरि के रूप में ग्रहण करने पर ही हो सकती है, अतः विषयी का विषय में अभेद है। अन्य आलंकारिकों के मतानुसार परिणाम अलंकार दो प्रकार का होता है–

१– **आरोप्यमाण परिणाम**

२– **विषय परिणाम**

आरोप्यमाण परिणाम वहाँ होता है जहाँ विषय की उपयोगिता विषय के रूप में न होकर आरोप्यमाण से अभिन्न रहती है वहाँ आरोप्यमाण परिणाम होता है जैसे–

१– रसगङ्गाधर पृष्ठ – ३३२–३३३ (रूय्यक का सम्पूर्ण मत)

२– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २५२

"वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ" यहाँ है।

जहाँ आरोप्यमाण स्वतन्त्र रूप से प्रकृत कार्य के प्रति उपयोगी न हो बल्कि विषय से अभिन्न होकर ही उसका उपयोगी हो वहाँ विषय परिणाम होता है। जैसे – वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति किन्तु यह रूपक में दो प्रकार का है। इसीलिए तो मम्मट ने **उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक है** यह कहा है। अतः परिणाम अलंकार रूपक अलंकार से पृथक् कोई अलंकार नहीं है।[1]

यहाँ नागेश की टीका के अनुसार "केचिद्वदन्ति" से यह विदित होता है कि पण्डितराज की इस मत के साथ सहमति नहीं है। रूपक में परिणाम का अन्तर्भाव उचित नहीं है।

"केचिद्वदन्तीत्याभ्यामरुचिः सूचिता। चमत्कृतिनिदानत्वेन अलंकारभेद इति सिद्धान्तनादन्यत्रे वात्रापि भेद एवोचित इति।" रस गंगाधर – पृ० २५२

परिणाम अलंकार सामानाधिकरण्य में और व्यधिकरण के भेद से दो प्रकार का होता है। सामानाधिकरण्य पुनः वाक्यगत और समासगत भेद से दो प्रकार का होता है। उपमा और उपमेय में समान विभक्ति का प्रयोग होने पर सामानधिकरण्य और भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने पर व्यधिकरण्य समास होता हैं। पूर्वोक्त उदाहरण "अपारे संसारें" हरिनवतमाल यह पद उपमानोपमेय का समासगत रूप है और विग्रह करने पर दोनों में समान विभक्ति है अतः सामानाधिकरण्य है।

<u>समासगत सामानाधिकरण्य का उदाहरण जैसे–</u>

महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावंश्रावं वचः सुधाम्।
उप"अभि" मन्युसुतो राजा परां मुदमाप्तवान्।।[2]

---

१. रसगंगाधर पृ० २५२

२. रस गंगाधर पृ० २४६

व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण :–

अहीनचन्द्रा लसताननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिरिमतेन।

एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केषाम् न महीतालेरयात्।।

इसमें युवती पर शुक्ल पक्ष की रजनी का आरोप किया गया हैं। तद्रूपेण वह प्रकृत विषय विरही जनों के संतोष के लिए होना चाहिए। अतः यह वाधित है, अतः उसका योषा रूप ही इसके लिए उपयोगी है अतः परिणाम अलंकार है।

अप्पय दीक्षित ने सामानाधिकरण्य और व्यधिकरण्य अलंकार बतलाकर व्यधिकरण्य का निम्न उदाहरण दिया है :–

तारारूपकशेखराय जगदाधाराय धारोधर ।

च्छायाधारक कन्धराय गिरिजासंगैकश्रृंगारिणे।

नद्या शेखरिणें दृशा तिलकिनें नारायणेंमास्त्रिणे।

नागैः कंकणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं मतिः।।[1]

इसमें नदी और नयन रूप विषयों में जो विभक्ति है वह शेखर और तिलकी रूप विषयिणों में नहीं है अतः वैयधिकरण्य है ।

पण्डितराज के मत से यहाँ परिणामालंकार मानना उचित नही है क्योंकि विषय से अभिन्न होकर विषयी का भान यद्यपि यहाँ होता हैं परन्तु वह उस रूप में उपयोगी नहीं है। अतः पूर्ण लक्षण का समन्वय न होने से यहाँ परिणाम नहीं है।

इसी तरह दूसरे उदाहरण में :–

द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरूक्त्यं विकल्प –

x x x

न्नानदं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंह क्षितीन्द्रः।[2]

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ६७

२. चित्रमीमांसा पृ० ६७

इसमें राजा रूप विषय का व पुष्प केतु आदि विषयिणो का विभक्ति भेद है अतः वैयधिकरण्य है। इसमें भी पण्डितराज ने परिणाम नहीं माना है। यहाँ विषयों का विषय से अभिन्न रूप में बोध होन पर भी तद्रूपेण उपयोग नही है।

परिणाम अलंकार की ध्वनि :–

परिणाम प्रमुख रूप से व्यंग्य होता है वह परिणाम ध्वनि का विषय होता है वह परिणाम ध्वनि शब्द बल से होने पर शब्द शक्ति मूला तथा अर्थ बल से होने पर अर्थशक्ति मूला होती है। शब्द शक्ति मूला यथा :–

पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि।
पयोधरं समाशास्वं येन शान्तिमवाप्नुयाः।।[1]

अर्थशक्तिमूला यथा :–

इन्दुना परसौन्दर्य सिन्धुना वन्धुना बिना ।
ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते ।।[2]

अप्पय दीक्षित ने अपने मतानुसार परिणाम ध्वनि का निम्न उदाहरण दिया है :–

"चिराद्विषहसे तापं चित्तं चिन्तां परित्यगाः।
नन्वसि शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः।।[3]

'अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव, तन्निषेवणादयं तापः शान्तिंमेष्यतीति परिणामों व्यज्यते ।।" चित्र मीमांसा पृ० ६६

"पण्डितराज नें इसका खण्डन करते हुए कहा कि "उसके सेवन से यह तेरा ताप शान्त हो जायेगा" यह प्रकृत के प्रति उपयोगिता व्यंग्य होती है तथापि उसके अवच्छेदक विषयी में विषय अभेद का कथन शब्दतः हुआ हैं। अर्थात वह वाच्य है अथवा वाच्य से

---

१. रस गंगाधर पृ० २५६
२. रस गंगाधर पृ० २५५
३. चित्र मीमांसा पृ० ६६

सम्बन्धित हैं। इस दशा में उसे ध्वनि का स्थल मानना बिल्कुल ही अनुचित है।

परिणामालंकार में भी रूपक के समान दोषों को लिंग, वचन आदि के भेद से समझ लेना चाहिए। यदि वह भेद कवि समय प्रसिद्ध हो तो दोष नहीं होता।

समीक्षा :–

रूय्यक, दीक्षित आदि के द्वारा मान्य किन्तु मम्मट के द्वारा अनिरूपित परिणामालंकार का पण्डितराज ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया। अतः इनकी स्वतंत्र सत्ता पण्डितराज एवं दीक्षित को मान्य हैं। नागेश भट्ट द्वारा भी इसे स्वतंत्र अलंकार माना गया है। पण्डितराज ने इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया वहीं अन्यों ने संक्षेप में प्रस्तुतीकरण किया जिससे इसकी सार्थकता दोष रूप में सामने उद्भूत हुई। रसगंगाधरकार का प्रतिपादन वैयाकरण और नैयायिक मतानुसार है, अतः दीक्षित का ही मत रमणीय है।

ससन्देहालंकार

अर्थ चित्रोपरकारक अलंकारों में ससन्देह का महत्वपूर्ण स्थान हैं। अलंकार शास्त्र में इसके अनेक नाम हैं। कुछ काव्य शास्त्री इसे सन्देह मानते हैं तो कुछ इसे अलंकार की कोटि में ही नहीं रखते हैं किन्तु यह अलंकार सादृश्य मूलक ही हैं। उपमान और उपमेय दोनों का सन्देह ही ससन्देहालंकार का बीज है। जबकि एक वस्तु में अपनी प्रतिभा से अनेक पदार्थो का संशय या एक उपमेय में अनेकों उपमान का संशय स्थापित होता हैं तो वहाँ सन्देहालंकार का विषय होता है।

उत्प्रेक्षालंकार में जहाँ उपमानोपमेय में संशय की प्रतीति आधिक्य होती है वही ससन्देह में दोनों की प्रतीति समान कोटिक होती है यही इन दोनों का भेद है।

सर्वप्रथम दीक्षित ने प्राचीनों का ससन्देह लक्षण उद्धृत किया है।

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणां।
प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञैः, ससन्देहः सा इष्यते।।[1]

जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृत पदार्थ में अप्रकृत भी अनिश्चित बुद्धि उत्पन्न होती हैं, किन्तु दीक्षित जी को यह लक्षण मान्य नहीं हैं। साम्यात् इस पद में यदि फलत्वेन् हम हेतु पंचमी मानते हैं तो ससन्देह के उन लक्षणों में जहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है यह लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। यदि हम स्वतः हेतुत्वः विवक्षा मानते हैं तो 'अयं मार्तण्डः' इत्यादि में जहाँ हेतुत्व विवक्षा नहीं है ससन्देह अलंकार नहीं हो सकेगा। अनवधारणा में यदि अनिश्चितता माने तो उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी और यदि अनिश्चितता का अर्थ एक कोटि में स्थिर नहीं मानते हैं तो अपह्नुति में अतिव्याप्ति होगी। 'प्रकृताश्रया' पद भी ठीक नहीं है क्योंकि कभी–कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ सन्देह का आश्रय होता है। यहाँ ब्रह्मा सन्देह का आश्रय है ।

दीक्षित जी ससन्देह के दो भेद मानते हैं :–

प्रसिद्ध कोटिक और कल्पित कोटिक –

---

१. चित्र मीमांसा पृ० २०२

प्रसिद्ध कोटिक यथा –

पंकजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः। [1]

मुख कमल है या चन्द्रमा हम किसी निर्णय कर नहीं पहुंच पाते है।

कल्पित कोटिकः–

जीवनग्रहणे नम्रः गृहीत्वायु न सन्नतः ।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः ।।

यहाँ दुर्जन रहट से छोटे या बड़े हैं निश्चित नही हैं। यहाँ ससन्देह कल्पित कोटिक है। पण्डितराज ने इस अलंकार के दो लक्षण किए है :–

प्रथम लक्षण यह है :–

"सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया सन्देहालंकृतिः।"[2] अर्थात सादृश्यमूला विरोध की प्रतीति जिसमें होती है, समान बल वाली, भिन्न – भिन्न कोटि में अवगाहन करने वाली बुद्धि रमणीय होने पर ससन्देहालंकार होता है। संशयमात्र में अति व्याप्ति का वारण करने के लिए सादृश्यमूला विशेषण का निम्न पद्य में उदाहरणार्थ दिया है :–

अधिरोप्य हरस्य हन्त चापं परितापं, प्रशमय्यवान्धवानाम्,
परिणेस्यति वा न वा युवायं निरपार्द मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ।। [3]

माला रूपक में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'भासमानविरोधका' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिए समबला विशेषण दिया। लौकिक संशय के निरसनार्थ रमणीय पद दिया है।

द्वितीय लक्षण निम्नवत् है :–

"सादृश्यहेतुका निश्चय सम्भावनान्यतराभिन्ना धी रमणीया संशयालंकृति ।।

---

१. रस गंगाधर पृ० २५६

२. " " "

३. " " "

अर्थात् निश्चय और संभावना से अतिरिक्त ऐसी बुद्दि जो सादृश्य के कारण होती हो तथा रमणीय हो संशयालंकार होती है। वस्तुतः यह उक्तिवैचित्र्य मात्र है। प्रथम लक्षण का तात्पर्यार्थ भी यही है।

अप्पय दीक्षित के "अस्याः सर्ग विधौ" में लक्षण संगत नही हैं को पण्डितराज ने असंगत सिद्ध कर दिया। उनके अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में परस्पर प्रतिक्षेप करने वाले नाना कोटिक बुद्धि स्वरूप सन्देहालंकार की अव्याप्ति नहीं होती है। रसगंगाधर में शुद्ध, निश्चयग्रंथ और निश्चमानत इस प्रकार ससन्देहालंकार और के उभेद कहे गये हैं।

शुद्ध ससन्देह :– जहाँ आरम्भ से अंत तक सन्देह बना ही रहे रसगंगाधर में शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इस प्रकार ससन्देहालंकार के तीन भेद कहे गये है।

१– **<u>शुद्ध संसदेह –</u>** जहां आरम्भ से अन्त तक सन्देह बना ही रहे वहां शुद्ध सन्देहालङ्. कार होता है। जैसे

मरकतमणि मेदिनी धरो वा तरूणतरस्तरूरेषा वा तमालः,

रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषि निकौरिति संशयः प्रपेदे।।[1]

२– **<u>निश्चयगर्भ :–</u>**

जहाँ सन्देह के साथ – साथ उसकी निवारण करने वाली दृढ़ बुद्धि का भी वर्णन होता रहे जैसेः–

तरणि तनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा "

मरकतमणिज्योत्सना वा स्यान्नसा मधुरा कुतः।।

इति रघुपतौ कायच्छाया विलोकन कोतुके।

वनवसतिभिः कैकै रादौ न सन्दिदिहे जनैः ।।[2]

इसमें पहले सन्देह फिर वह अयथार्थ प्रतीत होता है पुनः दूसरा निश्चय होता है।

१– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २५७

२– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २५७

३-- **निश्चयान्त :-**

वहाँ होता है जहाँ क्रमशः अनेक सन्देह होते हैं और अन्त में कोई निश्चित ज्ञान होता है। यथा -

चपला जलदाच्युता लता वा तरूमुख्यादिति संशये निमग्नः,

मुख निःश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैसीदथ तां वियोगीनीति।।[1]

उक्त उदाहरण में वियोगिनी नायिका के सम्बन्ध में क्रमशः विद्युत् व लता प्रकारिका भ्रान्ति होती है एवं अन्त में यथार्थ निश्चय होता हैं।

इसी तरह कुछ के मत से आरोपमूलक और साध्यवसानमूलक ससन्देह भी होता है:-

१. **आरोपमूलक ससन्देह :-**

वहाँ होता है जहाँ उपमान व उपमेय दोनों का शब्दशः ग्रहण किया गया हो जैसे — उक्त पद्य।

२. **साध्यवसान मूलक :-**

जहाँ उपमेय का ग्रहण न करके केवल उपमान का ही ग्रहण किया जाये वहाँ साध्यवसान मूलक अलंकार होता है जैसे—

सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं,

लिप्तं वा किम् कुंड्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम्।।

संदेहं जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां।

ब्रातः प्रात रूपा तनोतु भवतां भव्याति भासां निधेः।।[2]

इसमें सवित्रि विषयक रति का परिपोषक होने से ससन्देह मुख्य अलंकार है। इसी तरह वाच्य, लक्ष्य, व्यड्ग्य, भेद से ही ससन्देहालंकार तीन प्रकार का होता है।

१-- रसगड्गाधर पृष्ठ - २५८

२-- रसगड्गाधर पृष्ठ - २५८

वाच्य ससंदेहालङ्.कार के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं ।

व्यंग्य ससन्देहालंकार के उदाहरण जैसे –

साम्राज्यलक्ष्मीरियंमृष्यंकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।

रामस्य राममवलोक्य लोकैरिति स्म् दोलारूरूहेतदानीम्।।[1]

व्यंग्य ससन्देहालंकार के उदाहरण जैसे:–

"तीरे तरूव्यावदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला।।[2]

साधारण धर्म के आधार पर भी ससन्देहालंकार के विविध प्रकार होते हैं। ससन्देहालंकार की ध्वनिके सम्बन्ध में अप्पय दीक्षित जी ने निम्न पद्य दिया है–

कांचित् कांचनगौरांगीम् वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।

वरदः संशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत्।।[3]

इसमें संशय शब्दशः कथित हो गया है, परन्तु उतना मात्र होने से अलंकार की हानि नहीं होती, क्योंकि संशयालंकार का प्रयोजक वक्षस्थल में स्थित रहते हुए ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सम्मुख बैठी हैं इस प्रकार का संशय **वक्षःस्थल को देखा** इससे व्यंग्य होता है। अतः सन्देहालंकार की ध्वनि यहाँ है, सारांश यह है कि "कांचित् कांचन्" इत्यादि में भी संशय का शब्दशः उल्लेख हो जाने पर भी उसकी व्यंग्यता प्रतीत होती है।

पण्डितराज को इस पर कड़ी आपत्ति है। इसके प्रमाण के लिए पण्डितराज ने ध्वनिकार का निम्न अंश प्रस्तुत किया है।

१– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २६०

२– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २६०

३– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २६१

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः।

यत्राविष्क्रियोः स्वोक्त्या सान्यै वालंकृतिर्ध्वनेः।।[1]

उक्त के खण्डन में पण्डितराज का रसगङ्गाधर का मत पृ० २६२–२६३ दृष्टव्य है।

१-- इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य एवं तट्टीकाकार को प्रमाण बनाकर अप्पयदीक्षित को इन्होंने असंगत सिद्ध कर दिया है।

समवलोकनः—

पण्डितराज द्वारा भेदों में आरम्भिक तीन भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद–प्रभेद जो बतलाये गयें हैं वे नवीन हैं। यह सर्वप्रथम पण्डितराज ने ही उठाया ऐसी बात नहीं क्योंकि पूर्वाचार्यों को भी यह मान्य था। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसका विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण पण्डितराज ने ही किया। पण्डितराज ने कोई नवीन विषय सम्मुख न रखकर केवल स्पष्टीकरण ही दिया है।

पण्डितराज द्वारा अप्पयदीक्षित का किया गया खण्डन विचारणीय विषय है कि वह उचित है या अनुचित। दीक्षित के मतानुसार –

कान्चित् कांचन् गौरांगीं वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।

वरदः संशयापन्नों वक्षस्थलमवैक्षत् ।।[2]

दीक्षित के मत से यहाँ तीन संशय व्यंग्य हैं-----

१. युवती और लक्ष्मी इन दोनों में कौन अधिक रूपवती है ?

२. युवती को सामने देखकर रूपगर्विणी लक्ष्मी का क्या हुआ होगा ?

३. वक्षस्थल में एक लक्ष्मी तो पहले से हैं, अब इस लक्ष्मी का क्या होगा ?

यहाँ व्यंग्यार्थ चमत्कारी अवश्य है, किन्तु वही प्रधान है और इतना चमत्कारी है कि उसी में सहृदय का हृदय रम जाये ऐसी बात नहीं है। अतः मेंरे विचार से इसे गुणी भूत व्यंग्य मानना ही उचित है। अतः पण्डितराज का ही मत समीचीन लगता है।

१— धन्यालोक पृष्ठ २७१–२७२

२— चित्रमीमांसा पृष्ठ २१५

भ्रान्तिमान् अलंकार

भ्रान्तिमान् का अर्थ है भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान । अत्यधिक सादृश्य के कारण ही उपमान में उपमेय की निश्चयात्मक भ्रान्ति को भ्रान्तिमान अलंकार कहा जाता है। डा० ब्रहमानन्द शर्मा के मत से जहाँ एक ओर सादृश्य पर आधारित भ्रान्ति के कारण वाह्य होते हैं वहीं दूसरी ओर साम्य से अतिरिक्त भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते हैं। जब इसके कारण वाह्य होते हैं। फलतः ऐसी दशा में चमत्कार मूलतः भ्रान्तिजन्य होती है, किन्तु इसके कारण जब अतिरिक्त होते हैं तब ये भ्रान्ति के विषय में न रहकर दर्शकों या पाठकों की चित्तबृत्ति में अवस्थित रहती है।

फलितार्थ यह है कि यह अलंकार केवल भ्रान्ति में नहीं है, अपितु सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति में है। सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति भी ऐसी हो जहाँ कवि प्रतिभा हो तथा इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन रूद्रट्[1] ने किया। परन्तु उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में किया है।[2] वहीं भामह, उद्भट, वामनाचार्यों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता मानने से ही इंकार कर दिया है। भोज, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने इसका अपने-अपने ग्रन्थों में वर्णन किया हैं। "रूद्रट" ने अलंकार सर्वस्व में भ्रान्तिमान् का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है।

---

१. अर्थविशेष पश्यन्नवागच्छद्न्यमेव तत्सदृशम्।
निःसन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति।।
काव्यालंकार ८/८७

२. शरीरंमित्युत्प्रेक्ष्यं तन्वगिं त्वन्मुखं त्वन्मुखाश्रया।
इन्दुमण्यनुधावामीत्येषां मोहोपमास्मृता।।
काव्यादर्श २/२५

"सादृश्यादवस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान" अर्थात् "सादृश्य के कारण किसी अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति होना भ्रान्तिमान होता है"।[1]

उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्युत्पति दोष से ग्रस्त होने के कारण पण्डितराज ने इसका जोरदार खण्डन किया है :–

अतिव्याप्ति :–

१. ससन्देह और उत्प्रेक्षा में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। ससन्देह में दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण एक वस्तु में अन्य वस्तु की सन्देहात्मक प्रतीति होती है और उत्प्रेक्षा में भी सादृश्य के ही कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भान होता है।

२. यदि यह कहें कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का निश्चय होन पर भ्रान्तिमान अतिलंकार होता है तब भी रूपकालंकार में इसकी अतिव्याप्ति होगी। रूपक में वह प्रतीति निश्चयात्मक होती है।

३. यदि यह कहें कि उपमेयतावच्छेदकानवगाही निश्चय भ्रान्तिमान का स्थल है तथापि अतिशयोक्ति में होने वाली प्रतीति में अतिशयोक्ति होगी। अतिशयोक्ति में उपमेय का उपमेयत्वेन बोध नहीं रहता है।

अव्युत्पत्ति :–

इसी प्रकार अनाहार्य निश्चय को भ्रान्तिमान कहा जाय तब भी दोष है क्योंकि वह लक्षण भ्रान्ति मात्र का ही होगा भ्रान्तिमान् का नहीं अतः इसकी संगति असंगत होगी।

---

१. अलंकार सर्वस्व पृ० ६८

दीक्षित जी ने चित्रमीमांसा में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है :—

कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।

आरोप्यमाणानुभवो यत्र सा भ्रान्तिमान्मतः।।

जहाँ आरोप्यमाण विषयी "चन्द्रआदि" का अनुभव हो तथा जहाँ आरोप विषय "मुख आदि" पर जिसका विषयत्व मुखत्व आदि छिपा दिया हो वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। आरोप विषय में आरोप्यमाड़ विषयी का अनुभव कवि कल्पित होने पर लक्षण भी व्याप्ति रूपक आदि में नहीं होती।[1] रूपक एवं भ्रान्तिमान में अन्तर यह है कि रूपक में विषय और विषयी का पृथक—पृथक ज्ञान रहते हुए विषयी में विषय पर आरोप होता है अर्थात विषय में विषयी का बोध होता है। परन्तु भ्रान्तिमान अलंकार में विषय छिप जाता है। अतः 'पिहितात्मनि' विशेषण से रूपक में भ्रान्तिमान अलंकार की अपिव्यप्ति नहीं होती है।

किन्तु पण्डितराज ने उक्त मत का जबर्दस्त खण्डन किया।

१— "पिहितात्मनि" विशेषण से रूपकादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है यह ठीक नहीं है क्योंकि रूपक में आरोप्यमाण वस्तु का अनुभव वर्णित नहीं होता अपितु उससे अनुभव उत्पन्न होता है अर्थात् भ्रान्ति है। अनुभव रूप और रूपक है अनुभव का विषय । अनुभव :—

---

१. पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकं कविप्रतिमया कल्पनं विवक्षितम् । तस्यैव विषयविधानसामर्थ्यात्। अतो रूपकादौ नातिव्याप्तिः।

चित्रमीमांसा पृ० ७५

भ्रान्ति के लक्षण की अनुभूयमान अभेदरूप रूपक में किसी प्रकार अतिव्याप्ति होती ही नहीं । अतः पिहितात्मनि कहकर उसका वारण करना निर्मूल है।

२. रूपक पद से **रूपक का ज्ञान** यह अर्थ मानकर भी यदि उस विशेषण को सप्रयोजन सिद्धि किया जाय तो भी ससन्देहालंकार में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसमें भी विषयतावच्छेदक का बोध नहीं होता है।[1]

भ्रान्तिमान के भेद

अप्पयदीक्षित ने भ्रान्तिमान के चार भेद प्रस्तुत किए हैं । पण्डितराज ने एक भी अलंकार भेद का निर्वचन नहीं किया है अपितु अप्पय द्वारा दिए गये एक विशिष्ट उदाहरण का खण्डन मात्र किया है—

1. शुद्ध भ्रान्ति
2. उत्तरोत्तरभ्रान्ति
3. भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति
4. अन्योन्यविषयक भ्रान्ति

> शिन्जानैर्मज्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकैः।
> स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाण्डयः कीरद्रष्टा।।
> तल्लोपायालपन्त्य पिकनिनदधिया ताडिताः काकलीकै।
> रित्यं चालेन्द्रसिहं त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम्।।

प्रस्तुत उक्त पद्य में भिन्नकर्तृक भ्रान्ति का निवधन स्पष्ट है। प्रसंग में भ्रमर, शुक एवं काकु।

---

१. नहि दुग्धभागजलभागानां व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षणं जलंशान्ति व्याप्तिकंकर्तुम् युक्तम्।।

रसगंगालंकार भ्रान्ति प्र० पृ० २६८

भ्रान्ति से स्तनकलश, हस्तपल्लव एवं वाणी को कमशः मंजरी, किसलय एवं कोकिलकन्दन मान बैठे हैं।

इस पद्य पर पण्डितराज तथा आचार्य विश्वेश्वर ने दीक्षित जी का प्रबलतम् खण्डन किया है।

१. स्तन कलशों में मन्जरी की भ्रान्ति कवि प्रसिद्ध नहीं है।

२. कीरदष्टाः में अविमृष्ट विधेयांश दोष है, कीरैर्दष्टाः प्रयोग होना चाहिए।

३. पिकनिंनदधिया में कौओं को कोकिलालप में नहीं अपितु कोकिलाओं में भ्रान्ति ही संभव है। कोकिल ध्वनि हेतु कूजित प्रयोंग उचित है, निनद नहीं।

४. त्वदरिमृगदृशा में अन्वय दोष भी है। दूसरे स्तन कलश रहकर पुनः उसका मञ्जरी के साथ औपम्य दिखलाना भी अचमत्कारी है। सादृश्य पर ही आधारित रूपक और उपमा का निबन्धन उद्विग्नकारी हैं।

किन्तु यह देखा जाय तो यह आलोचना उचित नहीं है। उक्त दोष तो श्लोककार की है। हॉ, अप्पयदीक्षित ने ऐसे असंगत श्लोक को ग्रहण क्यों किया यह चिन्तनीय है। दीक्षित जी ने अन्योन्य भ्रान्तिमान का एक उदाहरण दिया है :-

"पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिंघर्तुमिच्छति।।"[1]

---

१. चित्रमीमांसा पृ० २२१

समवलोकनोपरान्त यह तथ्य उभरकर आता है कि पण्डितराज द्वारा किए गये खण्डन व्याकरण के आधार पर ही है। इस आधार पर दीक्षित का किया गया खण्डन न्यायोचित नहीं है। अलंकार सर्वस्वकार का भी पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन उचित नहीं हैं। पण्डितराज के इस आक्षेप के खण्डन में नागेश भट्ट का खण्डन ध्यातव्य है। नागेश के मतानुसार प्रथम तो उक्त उदाहरण में उल्लेखत्व और भ्रान्तित्व की संकीर्णता हो जाने से ही लक्षण में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो जाता है। जैसे – भूतत्व और मूर्तत्व के लक्षण की संकीर्णता पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों पदार्थों में रहती है। यदि भूतत्व और मूर्तत्व का लक्षण इसमें अतिव्याप्त हो जाय तो कोई दोष नहीं है। अत ऐसे दोषों से किसी भी प्रकार बचना असंभव है। अतः दीक्षित जी के लक्षण पर ये सारे आरोप व्यर्थ प्रलाप मात्र हैं।

"शिञ्जानानैर्मञ्जरीति " इस उदाहरण में फलतः दीक्षित जी ने भ्रान्ति अलंकार के अंश मात्र को उदाहृत किया है वस्तुतः यह इसका उदाहरण ही नहीं है। पण्डितराज के अनुसार जहाँ एकाधिक भ्रान्तियां होंगी वहाँ भ्रान्तियां अलंकार नहीं होगा। यहाँ परिभाषा के प्रसंग में पण्डितराज तो ठीक हैं किन्तु दीक्षित के आरोप के प्रसंग में पण्डितराज ध्यान वस्तुतः इस पर नहीं गया कि इस अलंकार में यथार्थतः कवि को भ्रान्ति नहीं होती, प्रत्युत अपनी प्रतिभा से वह अपने काव्य में जिन पात्रों को निबद्ध करता है उनके भ्रम का ही वर्णन रहता है। कवि भ्रान्त व्यक्ति की वास्तविक भ्रान्ति का उल्लेख करके अपूर्ण आनन्द की योजना करता है। जहाँ तक विधेयाविमर्श का प्रश्न है वहाँ वाच्य रचना में सामान्य सिद्धान्त विधेयाविमर्श से नियमित हैं।

अनुवाद्यमनुक्त्यव न विधेयमुदीरयेत्।

न ह्यलब्धास्पदकिंचित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ।।

द्वितीय चरण में इस नियम का स्पष्टरूपेण उल्लंघन भी नहीं है। तृतीय चरण के ताड़न और नाद का जहाँ तक प्रश्न है वह आक्षेप लभ्यार्थ ही है। अतः उक्त उदाहरण इतनी निकृष्ट कोटि का भी नहीं कहा जा सकता है।

रूपक के साथ भ्रान्तिमान का प्रदर्शित भेद पार्थक्य नैयायिक मतानुसार बौद्धिक व शास्त्रीय प्रतिपादन है। अनैयायिक, सहृदय के हृदय में उस भेद का प्राकट्य कठिन है।

उल्लेख अलंङ्कार

प्राचीनालंकारिकों में मम्मटाचार्य पर्यन्त इस अलंकार का विवेचन कहीं नहीं प्राप्त होता है। इस अलंकार का प्रादुर्भव किसने किया यह भी एक चिन्तनीय विषय है। किन्तु अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने इसका विशद स्पष्ट विवेचन सर्वप्रथम किया ऐसा कहा जा सकता है। प्रताप रूद्रीय,[1] साहित्य दर्पणकार[2] ने इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। चन्द्रालोक[3], चित्रमीमांसा, रसगङ्.गाधर में भी इस अलंकार का वर्णन प्राप्त होता है।

काव्य प्रकाश की उद्योतटीका में उल्लेखालंकार की स्वतंत्र सत्ता का उल्लेख नहीं है।[4]

पण्डितराज ने उल्लेखालंकार की दो स्थितियां सामने रखी। प्रथम की स्थिति निम्नवत् है:–

---

१. अर्थयोगरूचिश्लेषैरूल्लेखमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः।।

प्रताप रूद्रीय पृ० ३८२

२. कवचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।। सा०दर्पण पृ०५२३

३. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। चन्द्रा पृ० ४५

४. एतेनैतादृशेषु विषयेषूल्लेरवालंकारोऽमतिरिक्त इति केषांचिदुक्तिः परास्ता। गजयातेतिवृद्धाभिरित्यादि श्लोके नायमलंकारः। अध्यवसानाभावात्। चैवं कोऽत्रालंकारः न कोऽपि।

का० प्र० प्रदीपोद्योत् पृ० ४६३।

अर्थात एक ही वस्तु का निमित्त के भेद से अनेक ग्रहीताओं के द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण होता है वही उल्लेख होता है। यथा :–

अधरं विम्बमाज्ञाय मुखमब्जं च तन्विते।

कीराश्च चंचरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम्।[1]

यहाँ 'एकस्य वस्तुनः' कह देने से वह उल्लेखालंकार निरस्त हो जाता है। यद्यपि इसमें भी शुकों और भ्रमरों के द्वारा अधर और मुख का कमशः बिम्बाफल के रूप में और कमल के रूप में ग्रहण हो रहा है। अतः उल्लेखालंकार हो सकता है। इसी प्रकार "धर्मस्यात्मा ममाधेय क्षमायाः" इत्यादि मालारूपक में यह लक्षण प्रवृत्त न हो अतः "अनेकैग्रहीतृभिः" यह पद प्रयुक्त किया।

उल्लेख में होने वाला ग्रहण एक व्यक्ति के द्वारा एक ही प्रकार का होता है। अनेक प्रकार का नहीं, परन्तु वह ग्रहण अनेक व्यक्तियों के द्वारा भिन्न – भिन्न हो सकता है।

इसी प्रकार जहां एक ही वस्तु का अनेक गृहीताओं के द्वारा एक ही प्रकार का बोध हो वहाँ भी उल्लेखालंकार नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करने के लिए लक्षण में <u>अनेकप्रकारकं</u> यह विशेषण रखा गया।

१– रसगंगाधलंकार पृष्ठ २२५

द्वितीय स्थिति में उल्लेख का लक्षण इस प्रकार का है :–

"यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्।।"[1]

अर्थात् अनेक ग्रहीताओं के न होने पर भी विषय के आश्रय के समानाधिकरण्य वाले सम्बन्धियों मे से किसी एक का अनेकत्व प्रयुक्त एक वस्तु का अनेक प्रकारत्व हो।

उल्लेखालंकार के इन दोनों प्रकारों में वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम में जहॉ भिन्न–भिन्न ग्रहीतों के द्वारा नाना प्रकार के ग्रहणों का समुदाय ही चमत्कार उत्पन्न करता है और वहीं दूसरे में तत्तद्विषयक भेद से भिन्न प्रकार समुदाय मात्र में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति से अलंकारत्व होता है । इसमें जो ज्ञान प्रधान अंश रहता है उससे अलंकारता नहीं होती क्योंकि वह चमत्कारी नहीं होता ।

अप्पयदीक्षित का मत :–

दीक्षित जी ने उललेख अलंकार का वर्णन निम्नवत् किया है :–

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।

उल्लेखनमनेकेन तदुल्लेखं प्रचक्षते।।

जहॉं भिन्न–भिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु का निमित्त भेद के कारण पृथक – पृथक अनुभव करें। लक्षण की व्याख्या करने से केन्द्रित होता है कि इसमें सभी पद सार्थक है :–

---

१. रसगंगाधर पृष्ठ २७४

अनेकेन :– कहने से माला रूपक में इसकी अति व्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अनुभवकर्ता वहाँ एक ही व्यक्ति होता है। **अनेकधा** कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भी पृथक–पृथक होना चाहिए। **एकस्य** कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का भिन्न–भिन्न प्रकार से उल्लेख हो वह वस्तु एक ही होनी चाहिए। **उल्लेखम्** कहने का तात्पर्य यह है कि वर्णन निषेध स्पृष्ट न हो ऐसा अपह्नुति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए किया गया। इन सबके पश्चात् भी यदि उसमें कोई अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना करे तो उसका निवारण कैसे करना चाहिए इसे दीक्षित जी निम्नपद्य के द्वारा स्पष्ट करते है :–

कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेवाम्बुजंपरे
वक्त्रं तव वयं भ्रमस्तपसैक्यं गतं व्दयम्।।

इस अपह्नुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति की शंका हो तो अनेकधा उल्लेख में निषेधास्पृष्टत्व विशेषण और जोड़ देना चाहिए। उससे प्रथमार्ध में जिन दो मतों का उल्लेख हुआ है उनका उत्तरार्ध में वर्णित तृतीय मत से निषेध व्यंग्य होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।[1]

---

1. एवमपि यदि 'कान्त्या चन्द्रं' इत्यपहनवोदाहरणं विशेषेऽतिव्याप्तिः शक्या, तदानीमनेकधोलेखनं निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् तत्राद्योल्लेखनद्वयम् पर्ममत्योपन्यास सामर्थ्याद् गम्यमाननिषेधमिति नाति व्याप्तिः। चित्रमीमांसा पृ० ७८

किन्तु उक्त पद्य में पण्डितराजने अपह्नुति नहीं अपितु संकीर्ण उल्लेख माना है। क्योंकि उल्लेख दो प्रकार का होता है :– शुद्ध और अलंकारान्तर से संकीर्ण।[1] उनके मत से "यस्तपोवनमिति मुनिभिः" से शुद्ध और "यमनगरमितिशतत्रुभिः" कहकर भ्रान्तिमान और रूपक आदि से संकीर्ण उल्लेखालंकार है। यह अप्पय ने स्वयं कहा है। अतः उनकी इसी उक्ति के आधार पर "कान्त्या चन्द्रं" इत्यादि में भी अपह्नुति से संकीर्ण उल्लेख कहा जा सकता है। निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोड़ना व्यर्थ है। यदि दीक्षित जी निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोड़कर अपह्नुति के इस उदाहरण में निवारण भी कर दे तो भी "कपाले मार्जारः"[2] इत्यादि स्वकीय प्रदत्त भ्रान्तिमान के उदाहरण में उसकी निवृत्ति कैसे करेंगे ? अतः संकीर्णोल्लेख के निवारणार्थ प्रयत्न व्यर्थ है।

उल्लेखालंकार के भेद :–

दोनो ही प्रकार के उल्लेखों के शुद्ध और संकीर्ण रूप से दो–दो भेद होते हैं । प्रथम प्रकार के शुद्धोल्लेख का उदाहरण जैसे –

नरैर्वर गति प्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे।

x x x

---

1. द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽलंड्कारान्तरसंड्.कीर्णश्च।

रसगंगाधर पृ० २७२

2. कपाले मार्जारः पयः इति करांल्लेढि शशिनः
स्तरुच्छिद्र प्रोतान्बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति।। चित्र मीमांसा पृ० ७५

तनोतु ममं शं तनोः सपदि शन्तनोरंगना।।[1]

अन्य किसी अलंकार से मिश्रित न होने से यह शुद्ध है।

संङ्कीर्णोल्लेख यथा –

आलोक्यं सुन्दरिमुखं तव मन्दहासं

नन्दन्त्यमन्द मरविन्दधिया मिलिन्दाः।

किं चालि पूर्ण मृगलांछन सम्भ्रमेण,

चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः।।[2]

अनेक भ्रान्तियों का समुदाय होने के कारण ही उल्लेखालंकार है।

द्वितीय उल्लेख का शुद्ध प्रकार यथा –

दीनव्रातेदयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किंच मूढ़ी

काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना

लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि पर विपद्दर्शने काकिशीवा

राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृतिः।।[3]

१– रसगंगाधर पृ० २७१

२– रसगंगाधर पृ० २७२

३– रसगंगाधर पृ० १०४

संकीर्ण का उदाहरण यथा :-

गगने चान्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले।

पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल तवकीर्तयः।।[1]

फलोल्लेखः-

यही उल्लेख जब फलों के विषय में होता है तब फलोल्लेख होता है यथा -

अर्थिनो दातुमेवेति यातुमेवेति कातराः।

जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देवजानते।।[2]

इसमें विशेषण है दातृत्व आदिफल, अतः फलोल्लेख है।

हेतूल्लेख :-

जहाँ हेतुओ का वर्णन हो वहाँ हेतूल्लेख होता है।

हरिचरणनखरसंगादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये।

त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरेसुरतिटिनि सुरतिटिनि ! वस्तुमाहात्म्यात्।।[3]

यहाँ गंगा के विषय में अनेक किया हेतुओं का वर्णन होने से हेतूल्लेख है।

१- रसगंगाधर पृ० २७५

२- " " २७३

३- " " २७३

उल्लेखालंकार की ध्वनिः–

उदाहरणं यथा –

अनल्पतापा हृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः ।

विलोक्य गंगां विचलत्तरंगाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति ।।[1]

यहाँ शुद्धोल्लेख की ध्वनि है।

संकीर्ण उल्लेख यथाः–

"स्मयमानानां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम्।

चकोराश्चंचरीकाश्च मुदं वरतरां ययुः ।।[2]

यहाँ भ्रान्ति से संकीर्ण उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि जैसे --

भासयति व्योमगता जगदाखिलं कुमुदिनीर्विकासयति।

कीर्तिस्तव धरिणगता सागरसुताया समफलतां नयते।।[3]

इसमें अधिकरण में भेद के कारण एक ही कीर्ति का चन्द्रिका और सागर रूप से अनेक विध ग्रहण होने से रूपक से मिश्रित अलंकार है।

समीक्षा :–

अप्पय दीक्षित के द्वारा दिए गये उदाहरण के खण्डन में एक मात्र अनुभव ही प्रमाण है। दीक्षित जी के "कान्ताचन्द्रं विदुः केचित्" इत्यादि अपहनुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति वारणार्थ उल्लेख लक्षण में "निषेध स्पर्श न किया हुआ" इस विशेषण इत्यादि के माध्यम से सारे किए गये प्रयासों को पण्डितराज निरर्थक बतलाते हैं, लेकिन वस्तुतः वह उल्लेख सादृश्यगम अभेद प्रधान आरोपमूलक अलंकार है।

---

१. रसंगाधर पृष्ठ २७७

२. " " २७७

३. " " २७७

इसका उल्लेख न होकर वर्णन से है। इसमें एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होता है। इसमें कार्य विषय तो एक होता है, किन्तु इसका वर्णन व्यक्ति दृष्टिभेद के कारण अनेक प्रकार से करते हैं। जब ग्रहीता या अनुभविता किसी एक विषय को लेकर उसका उसका अनेकविध वर्णन करता है तो यह आवश्यक नहीं हैं कि वह उसमें निहित अनेक गुणों कार्यो या धर्मों का वर्णन करे ही। अतः ऐसी स्थिति में सम्मिश्रण से उत्पन्न दोषों के निवाणार्थ "निषेध से असंपृक्त" विशेषण की निरर्थकता सिद्ध नही होती है।

जहाँ मिश्रित उल्लेख में निवाणार्थ लक्षण में प्रयुक्त विशेषण का कथन है उसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध होती है कि इन्हीं विशेषणों के बल से कवि वस्तु सौन्दर्य की व्यापकता का निदर्शन कर अपनी कल्पनाशक्ति को विस्तृत आयाम प्रदान करता है। एक वस्तु के लिए जितने उपमान प्रस्तुत किए जाते हैं उनका उस वस्तु के साथ अभेद या आभिन्नता होती है तथा उस पर अन्य पदार्थो का आरोप ही होता है। यही उल्लेख का वस्तुतः सौन्दर्य है। अतः दीक्षित जी का कथन सर्वथा दोष रहित है।

इस विषय में अन्यों की तुलना में कोई वैशिष्टय नहीं है, किन्तु उस विषय के साथ विवेचन और संकीर्ण व्याख्या एवं प्रतिपादन में नूतन्नता अवश्य ही रमणीय है। संकीर्ण उल्लेखकरण मानना उचित है। जब उल्लेखातिरिक्त अलंकार भी समान रूप से चमत्कारी हो। किसी पद का प्रधान होने पर संकर नहीं कहा जा सकता है।

अपहनुति अलंकार

संस्कृत साहित्य शास्त्राकाश में इस अलंकार का प्रचार–प्रसार प्राचीन काल से ही दिखलाई पड़ता है। वेद में ब्रहम विषयक अवधारणा है कि वह परम पुरूष जगत का सर्जन कर के स्वयं ही उसी में लीन हो गया है।[1]

ब्रहमसूत्रानुसार यह संसार ब्रहम एवं माया का खेल है। जैसः कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित है कि श्री कृष्ण ने रासलीला में अपने को पहले तिरोहित कर दिया। तदनन्तर वहीं अनन्त रूप धारण करके गोपिकाओं के साथ रमण किये।[2] उसी तरह यह अलंकार भी अपने सादृश्य को तिरोहित करके अलौकिक सादृश्य बल से साहित्य जगत में अवतीर्य होकर सहृदय मन को आनन्दित करता है। उपमेय की अपहनुति पश्चात उपमान का स्थापन ही इस अलंकार का मूल है।

१– सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽयं लोक व्यवहारः ।

ब्रंहम् सूत्र शाङ्करभाष्य उपोद्घात् पृष्ठ – १

२– कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।।

इस अलंकार का प्रथम प्रादुर्भाव भामह ने अपने काव्यालङ्कार में किया है।[1] उन्होंने इसका अन्तर्भाव सादृश्य मूलक अलंकार के अर्न्तगत किया है। कालान्तर में उद्भट्ट, वामन, रूद्रट मम्मट, रूय्यक, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इस अलंकार को स्वीकार किया। दण्डी ने इसे सादृश्यमूलक नहीं स्वीकार किया।

उन्होंने उपमालंकार में इसका अन्तर्भाव किया।[2] इसी का अनुसरण सरस्वती कण्ठाभरणकार ने भी किया है।[3] विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित इन दोनों ने सादृश्य सम्बन्ध को स्वीकार किया।

पण्डितराज ने इसका लक्षण करते हुए बताया कि –

"उपमेतावच्छेदकनिषेधसमानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपहनुतिः।।"[4]

अर्थात उपमेयता के अपने विशेष रूप का 'अवच्छेदक का' जिस आधिकरण में निषेध हो उसी अधिकरण में आरोप्यमाण 'उपमान' का तादत्म्य वर्णित करने पर अपह्नुति अलंकार होता है। रूपक में इस लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ निषेघ पद का विघान किया गया है। अपह्नुति और रूपक में एक विशेष अन्तर यह है कि रूपक में जहाँ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों का निषेध के अभाव में समानाधिकरण होने से **एक ही स्थल में होने के कारण** विरोध नहीं होता है वहीं अपह्नुति में उपमेय के विशेष रूप का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों में विरोध होता है।

१– अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः कियते चाभिधा यथा।।

३/२१ काव्यालङ्कार

२ - उपमापहनुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता
इत्यपहनुति भेदानां लक्ष्यों लक्ष्येषु विस्तरः।।

काव्यादर्श २/३०९

३– अपहनुतिरपहनुत्य किंचदन्यार्थ दर्शनम्।
औपम्य वाचनोपमा चेति सा द्विविधोच्यते।।

सरस्वती ४/४१

४– रसागंगाधर पृ० २७८

स्मितं नैतत्किं तु प्रकृतिरमणीयम् विकसितं

x x x

लतारम्या सेयं भ्रमरकुलनम्या न रमणी।।[1]

इसमें कमशः स्मिति, मुख, स्तनद्वय, और रमणी रूप उपमेयों का निषेध करके उसी अधिकरण मे विकास, कुमुद, कनक, फल और लता का तादात्म्य स्थापित किए जाने से अपह्नुति है।

अपह्नुति के भेद :–

यह अपह्नुति चार प्रकार की होती है। पहले इसके सावयव और निरवयव ये दो भेद होते हैं। फिर इन दोनों में वाक्य भेद एवं वाक्या भेद होते हैं। सावयव अपह्नुति तो उक्त पद्य ही है।

निरवयव यथा :–

श्यामं सितं च सदृशो न दृशोः स्वरूपं

किंतु स्फुटं गरलयेत दथामृतं च।

नो चेद कथं निरयत् नादयौस्तदैव

मोहं मृदं च नितरां दधते युवानः ।।

१ - रसगङ्गाधर पृष्ठ – २७८

इसमें विष और अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गई है उसके कारण रूप में बाधक हेतुओं का निबन्धन किया गया है। अतः हेत्वपह्नुति हैं। इसमें अंग भूता अपह्नुति न होने से यह निरवयवा है।

वाक्यभेद :–

जहाँ एक वाक्य से उपमेय का निषेध हो और दूसरे वाक्य से उपमान का आरोप वहाँ वाक्य भेद होता है। जैसे –

स्मितं नैतत्किं तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं।

इस उदाहरण में प्रथम चरण में उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप पृथक–पृथक वाक्यों से होने के कारण यहाँ वाक्य भेद भी है।

वाक्यैक्य :–

जहाँ विष छल, छद्म, कपट, व्याज आदि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाक्यैक्य रहता है।

यथा –

वदने विनिवेशिता भुजंगी पिशुनानां रसानाभिषेण छात्रा।

अन्या कथमन्यथावलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्याः ॥[1]

यहाँ **<u>भिषेण</u>** के प्रयोग से वाक्य भेद नहीं हैं इसके अतिरिक्त भी अपह्नुति के अन्य भेद भी हैं, किन्तु वे प्राथमिक न होने से गणनीय नहीं है।

---

१ रसगङ्गाधर पृष्ठ – २७६

अप्पय दीक्षित जी ने एक और भेद **'पर्यस्तापह्नुति** नाम' से किया है, किन्तु वह कुवलयानन्द में उद्धृत होने से प्रसंगतः यहाँ विषय नहीं है।

अप्पय दीक्षित जी ने इसका लक्षण निम्नवत् किया है।

''प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् साम्यादपह्नुतिः।।''[1]

जहाँ प्रकृत पदार्थ के निषेध से सादृश्याधार पर अप्रकृत की कल्पना की जाये।

इस लक्षण में सभी पदों की सार्थकता है। **' प्रकृतस्य निषेधेन''** कह देने से रूपक में अप्रकृत का आरोप पाया जाता है, निषेध नहीं। अतः यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती है। 'साम्यात्' और यन्यत्वप्रकल्पनम् कह देने से आक्षेपालंकार का निवारण हो जाता है क्योंकि वह सादृश्यमूलक अलंकार नही है। उसमें विषय का निषेध ही पाया जाता है अन्यत्वप्रकल्पनम् नहीं पाया जाता है। इसकी अतिव्याप्ति 'तत्वाख्यानोपमा' में भी नहीं होती है क्योंकि वहाँ अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की जाती है, जो अपह्नुति के ठीक विपरीत है।[2]

१— चित्रमीमांसा पृष्ठ — २३७

२ · चित्रमीमांसा सुधा व्याख्या

पृष्ठ — २३७

कुछ ने 'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य स्थापनम्', 'निषिध्य विषयं सम्यादारोप.' में अपह्नुति के लक्षण किये हैं। इनके मतानुसार पहले प्रकृत का निषेध करने के पश्चात् उस पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है, किन्तु इसका अपवाद भी है। अतः ऐसी स्थिति में आलंकारिकों ये लक्षण संगत नहीं बैठते हैं। दीक्षित जी ने इसी को ध्यान में रखकर प्रतिषिध्य, निषिध्य न कहकर 'निषेधेन' कहा है। यह लक्षण दोनों ही स्थिता में संगत बैठ जाता है।[1]

लक्षण में साम्य और सादृश्य पदों से स्पष्ट है कि प्रकृत और अप्रकृत में साधर्म्य होने पर ही अपह्नुति अलंकार होता है। किन्तु दीक्षित के मतानुसार साधर्म्येतर सम्बन्ध में भी अपह्नुति होती हैं। जैसे –

अमृतस्यन्दि किरणश्चन्द्रमामत्र नो मतः।

अन्य एवायमर्कात्मा विषनिष्यन्द दीधितिः।।[2]

सादृश्याभाव में भी यहाँ प्रकृत में अप्रकृत की स्थापना की गई है।

दीक्षित जी ने अपह्नुति के निम्न भेद किये हैं:–

१. अनेक वाक्यवती।

२. एक वाक्यवती।

इन्हें कमशः वाक्य भेदवती और वाक्याभेदवती कहा गया हैं।[3] वाक्य भेदवती अपह्नुति

१– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २३७

२– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २४३

३– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २३७

के दो भेद होते है।

१- अपह्नवपूर्वक आरोप

२- आरोपपूर्वक अपह्नव

अपहनव पूर्वक आरोप यथा –

अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पङ्कं परं मेनिरे

सारगंकतिचिंच संजगदिरे मूच्छायमैच्छंन्यरे।।

इन्दौ यद्दलितेन्द्र नीलशकलश्यामदरीदृश्यते।

तत्सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महेः।।[1]

यहाँ प्रकृत के निषेधोपरि अप्रकृतारोपण है।

आरोप पूर्वक अपहनवव जैसे –

मथान्नभूमिधर मूल शिलासहस्त्र,

संघट्टन ब्रण किणः स्फुरतीन्दु मध्ये।।

छायामृगः शशक इत्यति पामरोक्ति –

स्तेषां कथंचिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः।।[2]

यहाँ पहले अप्रकृत का आरोप है, तदनन्दर प्रकृत का निषेध है।

एक वाक्य की अपहनुति जैसे –

१– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २३६

२– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २४०

वत सखि किम् यदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य,

प्रियबिरहकृशेऽस्मिन् कामिलोके तथापि।

उपवनसहकारोद्भासि मृगच्छलेन

प्रतिविशिखकमनेको टंकित कालकूटम्।।[1]

यहाँ 'छल' शब्द के प्रयोग से आम्रवृक्ष पर बैठते हुए भौरों का निषेध करके विषैले बाणों की स्थापना की गयी है।

अपह्नुति के एक अन्य भेद भी है, जहाँ प्रकृत वस्तु को छिपाने के लिए सादृश्य का प्रयोग किया जाता है। यथा –

बाले लज्जानिरस्ता नहि नहि स्वरले चोलकः किं त्रपाकृत्।[2]

रूय्यक ने यहाँ का व्याजोक्ति माना है, किन्तु व्याजोक्ति का समर्थन न करने वाले आचार्य उद्भट्ट आदि यहां अपह्नुति का भेद मानते हैं। दीक्षित के मतानुसार दण्डी भी साधर्म्येतर सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। यथा –

"अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्।"

<u>पण्डितराजाभिमत अपह्नुति की ध्वनि –</u>

दयिते रदनत्विषां मिषादपि तेऽमी विलसन्ति केसराः।

अपि चातकवेषधारिणों मकरन्द स्पृहयालवोऽलयः।।[3]

१– चित्र मीमांसा पृष्ठ – १४०

२– चित्र मीमांसा पृष्ठ – २४१

३– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २८२

यहाँ प्रकृत दन्तकान्ति और केश की तथा अप्रकृत कमलकेशर और अलिसमूह की एक ही किया विलसति और एक ही स्पृहयालुत्व गुन होने से तुल्ययोगिता प्रतीत हो रही है। वह गौण है और व्यंग्य रूपा अपह्नुति प्रधान है।

<u>**ध्वनि के सम्बन्ध में**</u> **दीक्षित जी का मत–**

त्वरालेख्ये कौतूहल तरलतन्वी विरचिते,

विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णीसुतमपि।

अपि स्विद्यत्पाणि स्त्वरितमपमृज्यैतदपरा

करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टा च लिखति।।[1]

यहाँ यह पुण्डरीकाक्ष भी नही, अपितु साक्षात् कामदेव है, यह व्यंग्य हो रहा है।[2] किन्तु पण्डितराज को यहाँ ध्वनि मान्य ही नहीं है – वे खण्डन करते हुए कहते हैं

१– <u>**चक्रसुपर्ण लेखन**</u> से <u>नायं साधारणः पुरूषः</u> किन्तु <u>**पुण्डरीकाक्षः**</u> यह कहना अनुचित है अपह्नुति में दो भाग होते हैं उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। चक्र सूपर्ण लेखन रूप व्यंजक शब्द निषेध की व्यंजना करने में समर्थ नहीं हैं।

१– चित्र मीमांसा पृष्ठ – ८६

२– "इत्यादावपह्नुतिर्ध्वनिरूदाहर्तव्यः । अथहि चक्रसुवर्णलेखनेन 'नायं साधारणः पुरूषः किंतु पुण्डरीकाक्षः इति कयाचिद् व्यंजितम्। अन्यया या तस्या प्येतादृशंस्यां रूपं न सम्भवतीत्यारोपेण।

" नायं पुण्डरीकाक्ष कोऽपि, किंतु मन्मथः

चित्रमीमांसा पृ ८६

२-- उक्त निषधात्मक अर्थ की प्रतीति अनुभव सिद्धि से परे है, अतः इसके कारण भी व्यर्थ है।

३-- दीक्षित के अपहनुति के लक्षण "प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्व प्रकल्पनम्" की संगति यहाँ न होने से अनुचित हैं क्योंकि जिसका निषेध किया गया है ऐसे भगवान् पुण्डरीकाक्षः प्रकृत विषय ही नही है। अतः निषेध कैसे !

उपमेय का निषेध कैसा ? उपर्युक्त उदाहरण में उपमेय पुण्डरीकाक्ष नहीं, अपितु नायक है। इसी भाव का पोषक मम्मट कृत लक्षण भी है।

१-- "प्रकृतस्य निषेधेन' कहकर दीक्षित जी ने स्वयं इसे अपहनुति से बहिर्भूत कर दिया है।

२-- यहाँ अपहनुति नहीं अपितु रूपक माना जाना चाहिए।

<u>समीक्षा :--</u>

यहाँ विषय प्रतिपादन में ही मौलिकता है। विषय में नूतनता का अभाव है। पर मत खंडन विशेष कर दीक्षित जी का खण्डन पण्डितराज ने सामानाधिकरण्य को रख कर ही किया है। अतः यह सिद्ध होता है कि विषयपरिष्कार करते समय पर मत खण्डन पर भी पर्याप्त ध्यान रहता था। पण्डितराज द्वारा कृत खण्डन का नागेश जी ने खण्डन किया है और लिखा है पण्डितराज का यह आक्षेप भी विचारणीय है। दण्डी के अनुसरण करके ही दीक्षित जी ने अपहनुति ध्वनि को प्रदर्शित किया है, अतः कोई क्षति नहीं है।

सप्तम अध्याय
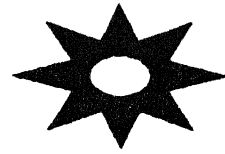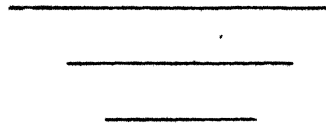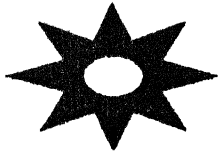
उत्प्रेक्षालंकार

प्राचीन काल से ही यह अलंकार उपमान और रूपक के अनन्तर संस्कृत साहित्य में बहुजन समादृत होता रहा है और आज भी समादृत है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसके स्वरूप को निरूपित किया है। भामह ने इसे सादृश्य मूलक अलंकार बतलाते हुए उपमा के साथ इसके सम्बन्ध को व्यक्त किया हैं।[1] दण्डी के प्रदर्शित "लिम्पतीव तमोऽगानि" इस उदाहरण को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। काव्यप्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का निम्नवत लक्षण किया है :—

" सम्भावन्मथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" अर्थात् प्रकृत (उपमेय) की उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षा और उपमा में भेद करना कठिन होता है। उत्प्रेक्षालंकार सादृश्य मूलक अभेद प्रधान अलंकार है। उपमा अलंकार में उपमानोपमेय दोनों के सादृश्य की प्रतीति होती है, किन्तु रूपकालंकार में उन दोनों के तादात्म्य की। उत्प्रेक्षालंकार में सादृश्य की सम्भावना होती है। रूय्यक ने इसके पर्याप्त भेद प्रदर्शित किए हैं और दीक्षित जी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया हैं । सर्वप्रथम उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच भेद पर विचार आवश्यक है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसे इस तरह प्रदर्शित किया है।

---

१. अविवक्षित सामान्य किंचिच्चोपमया सह।
एतद्गुणकियायोगदुत्प्रेक्षातिशयान्विता।।

भामह का० २/६१

२. लिम्पतीव तमोऽङ्.ानि वर्षतीवांजनं नभः।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम्।।

काव्यादर्शः २/२५

३. काव्य प्रकाशः — दशमोल्लासः

सूत्र १३६

१. मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

उत्प्रेक्षा वाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः।।

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है अतः जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः उत्प्रेक्षालंकार होता है।

२. 'इव' शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा में प्रायः किया पद के साथ होता है यथा – "लिम्पतीव तमोअंङ्गानि "

३. उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। उपमेय का वस्तुसत उपमान के साथ सादृश्य होने पर उपमा होती है। जबकि उपमेय की कल्पित उपमान रूपेण सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा होती है।

दीक्षित ने उत्प्रेक्षा का लक्षण प्रताप रूद्रीयकार विद्यानाथ से उद्धृत किया है –

यत्रान्य धर्म सम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम्।

प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।।[1]

जहाँ अप्रकृत पदार्थ के धर्म सम्बन्ध के कारण प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जाये वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

"अन्यं धर्म सम्बन्धात्' का तात्पर्य यह है कि प्रकृत में अप्रकृत की सम्भावना किसी धर्म सम्बन्ध के कारण ही हो, ऐसा सम्भव अलंकार में उत्प्रेक्षा

---

१. चित्रमीमांसा पृ० २४७

लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ किया गया। संभव अलंकार की पृथक सत्ता दीक्षित ने स्वीकार की है, किन्तु मम्मट, जगन्नाथ आदि ने नहीं। वे अतिशयोक्ति के तृतीय भेद में ही इसका समावेश करते हैं। "अन्यत्वेनोपतर्कितम्" लक्षण में इसलिए रखा गया है कि यदि प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना न होकर मात्र सम्भावना हो तो वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा।

यथा —

विरक्तसन्ध्या परूषं पुरस्ताद् यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।

शंके हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः।।

"उपतर्कितम" पद से अनुमानालंकार का भी निषेध होता है क्योंकि अनुमानालंकार में तर्क अथवा कल्पना का अभाव रहता है।

"प्रकृत" पद रखने का तात्पर्य यह है कि कल्पना प्रकृत गत होती है न कि अप्रकृत गत। अतः जहाँ अप्रकृत से कोई सम्भावना होगी वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा।

पण्डितराज ने उत्प्रेक्षालंकार का निम्न लक्षण किया है —

"तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य,

रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्वेन

वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा"

इस लक्षण में चार बार तत् पद का प्रयोग हुआ है। उनमें से द्वितीय 'तत्' पद विशेषपरक तथा शेष तीन 'तत्' पद विषयपरक हैं इसमें धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा दोनों को लक्षित किया गया है।

---

१. रसगगांधर पृ० २८५

लक्षण में 'तद् भिन्नत्वेन प्रमितस्य" कहने से "लोकोत्तर प्रभाव त्वां मन्ये नारायणं परम्' इसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि राज रूप विषय का पृथक रूप में प्रत्यायन न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा नहीं होगी।

वदन कमले नवाले स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।

जगदिह तदैव जाने दशार्धवाणेन विजितामिति।।[1]

जगंज्जय की सम्भावना में उत्प्रेक्षा न हो जाये। अतः "रमणीयतद्धर्म निमित्तकम्" यह विशेषण दिया है।

रूपक में अभेद का निश्चय रहता है किन्तु उत्प्रेक्षा में अभेद की सम्भावना रहती है। अभेद ज्ञान का वारण करने के लिए ही 'सम्भावनम्' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार है। —
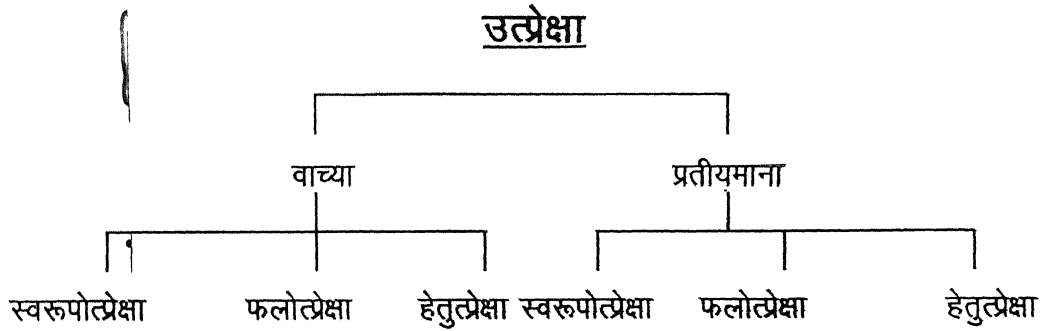
<u>वाच्या:—</u>।

जहाँ नूनम्, इव, मन्ये, जाने, अवेमि, शंके इत्यादि के द्वारा सम्भावना का कथन हो वहाँ वह उत्प्रेक्षा वाच्य होती है।

---

१. रसगंगाधर पृ० २४८

स्वरूपोत्प्रेक्षा :–

जब जाति, गुण, क्रिया और प्रन्मला पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पदार्थों के साथ अभेद सम्भावित किया जाये तो स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। इसके अनेक भेद होते हुए भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही चमत्कारी है।

हेतूफलोत्प्रेक्षा, या फलोत्प्रेक्षा – यही सम्भावना जब हेतू या फल के रूप में की जाती है तब हेतू फलोत्प्रेक्षा, या हेतूत्प्रेक्ष कहलाती है। जातियुक्त स्वरूपोत्प्रेक्षा, गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा, द्रव्यस्वरूपोंत्प्रेक्षा, मालास्वरूपोत्प्रेक्षा आदि स्वरूपोत्प्रेक्षा के भेद हैं। मूलग्रन्थ में ये भेद है।

इसी तरह हेतूत्प्रेक्षा के भी विविध भेद हैं, गुण, जाति, क्रिया, फलोत्प्रेक्षा आदि प्राचीन आलंकारिकों के अनुरोध से ही हैं। वस्तुतः उनमें कोई चमत्कार नहीं हैं। उपर्युक्त सभी उदाहरण धर्म्युत्प्रेक्षा के हैं। धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण निम्न है ––

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो,

महा मोहं मन्ये सरसिरूपसूनोरूपचितम्।

उपेक्ष्यत्वां यस्माद्विधुमय मकस्मादिह कृती

कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत्।।

इस पद्य में मोह रूप धर्म का ब्रहमा में समवाय सम्बन्ध से सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा है।

---

१. रसंगाधर पृ० २६६

जहाँ इन उत्प्रेक्षाओं का सांङ्कर्य हो वहाँ प्राधान्य के आधार पर उत्प्रेक्षा का विधान कर लेना चाहिए। उत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल में उत्प्रेक्षा का आधारभूत धर्म उपमा के समान विम्बप्रतिविम्बभावादि अनेक प्रकार का होता है तो वह कहीं उपात्त और अनुपात्त होता है और हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में वह धर्म कल्पित होने पर भी विषयानिष्ठ स्वभाविक धर्म से अभिन्न रूप में अध्यवसित होकर निमित्त बन जाता है तो वह धर्म सदा उदात्त ही रहता है। इस प्रकार साधारण धर्म और विषय के आधार पर भी उत्प्रेक्षा के अनेक भेद सम्भव होते हैं।

समीक्षाः—

उपमा और रूपक के अनन्तर उत्प्रेक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्प्रेक्षा के प्रायः दो भेदों धर्मोत्प्रेक्षा और धर्म्युत्प्रेक्षा को प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है, किंतु पण्डितराज के मत में प्राचीनमत से विलक्षणता जाता है।

प्राचीनमतानुसार धर्मोत्प्रेक्षा का स्थल वहाँ है जहाँ एक धर्म के साथ दूसरे धर्म का अभेद सम्बन्ध संभावित किया जाता हो। पण्डितराज के अनुसार धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ एक धर्मी में अन्य धर्मिगत किसी धर्म की संभावना उसके साथ रहने वाले अन्य धर्म के रहने के कारण की जाती है। इसको उन्होंने विविध उदाहरणों से पुष्ट किया है। अर्थात् प्राचीनों में दोनो उत्प्रेक्षाओं में एक ही सम्बन्ध था। वह था अभेद और पण्डितराज के मत में वह पृथक—पृथक होकर भेद और अभेद हो जाता है।

अलंकार जैसे विषय में उत्प्रेक्षा के ही लक्षण विवेचन में न्याय शास्त्र का अवलम्बन लेकर दोनो ही उत्प्रेक्षाओं का लक्षण एक ही में कर देने से विषय सहृदयों के मानस पटल पर क्लिष्टता और पण्डितराज के कभी—कभी पाण्डित्य प्रदर्शन के भाव को द्योतित करता है।

अलंकार सर्वस्वकार आचार्य रूय्यक ने उत्प्रेक्षालंकार के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण विचार तथा स्वस्थ स्वरूप अभिव्यक्त किया। इन्होंने संभावना एवं अध्यवसाय के स्थान पर साध्य अध्यवसाय पद का प्रयोग किया है। इनके मत से अध्यवसाय में व्यापार की जब प्रधानता होती है, तब उत्प्रेक्षालंकार होता है इसके दो भेद हैं–

१. साध्य

२. सिद्ध –

जब विषयी की असत्यता प्रतीत हो तो साध्य तथा जब असत्य विषयी का भी जब सत्य रूप में बोध हो तब सिद्ध अध्यवसाय होगा उत्प्रेक्षा में साध्य अध्यवसाय होता है। इसमें विषयी की प्रतीति सदा असत्य रूप में ही होती है। रूय्यक ने लिखा है ––

"विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। स च द्विविधः साध्यः सिद्धश्च ।
साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। असत्यत्वं च विषयिमतस्य धर्मस्य विषय उपनिबन्धे, विषयिसंभवित्वेन विषयासंभवित्वेन च प्रतीतेः । ––––––––
तदेवमप्रकृत्गुणक्रियासिम्बन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनं उत्प्रेक्षा ।"

–––– रूय्यक

रूययक की मान्यता है कि उत्प्रेक्षा केवल अभेद सम्बन्ध से ही होती है। फलतः उन्होंने –

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमूर्व्याम्।
अदृश्यत् त्वच्चरणारविन्द –
विश्लेषदुःखादिव वद्धमौनम्।।[1]

---

१. चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षा पृ० ३२३

इस उदाहरण में नूपुर में रहने वाले मौनत्व को हेतु बनाकर दुखरूपी गुण की उत्प्रेक्षा की गयी है। इस उत्प्रेक्षाका नुपूर में रहने वाले 'शब्दहीन होना' से अभिन्न मात्र हुआ मौनत्व ही निमित्त है।

इसी प्रकार <u>लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः</u> में लेपन किया के कप्त की उत्प्रेक्षा है और उसमें व्याप्त होना निमित्त है।

पण्डितराज के मत से रूय्यक के ये सारे मत या सिद्धान्त परस्पर विरोधी है। उन्होंने इसका खण्डन अपने ढंग से किया है। "सैषा स्थली" के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि–

यदत्र मौनहेतुत्वेन नुपूरे विश्लेषदुःखमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तक निःशब्द – त्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्। विश्लेषदुःखसमानाधिकरणत्वे सति नुपुरवृत्तित्वात्। न तु निश्चलनिमित्तके निःशब्दत्वविषये विश्लेषदुःखहेतुक मौनमभेदेनोत्प्रेक्षायामिव शब्दान्वितस्योत्प्रेक्षाया उत्सर्गसिद्धत्वात्। विषयस्य निगीर्णतया विषियणो विधेयानुपपत्तेश्च। यद्यप्येकालप्रभवत्वादि अस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम्। तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वाच्च। एवं फलोत्प्रेक्षायामपि भवतीति रसगंगाधरे पण्डितराजः।[1]

किन्तु यर्थाथरूप में देखा जाये तो ऐसी बात नहीं है। अपितु दीक्षित जी ने इसकी स्वीकृति कुछ सोच समझकर ही दी है। दीक्षित जी ने धर्मोत्प्रेक्षा के दो उदाहरणों में गुणरूप धर्म का उत्प्रेक्षा के उदाहरण "अस्यां मुनीनामपि मोहमूले" आदि के भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की व्याख्या स्पष्ट किया है। हॉ, किया रूप धर्म के उत्प्रेक्षा के मतभेद के

---

१. रसंगाधर पृ० ३०१

२. अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् दत्कुचशैलशीली।
नानारदाहलादि मुखं श्रितोरूर्व्यासो महाभारत सर्ग योग्यः।।
चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षा पृ० ३४१ (नैषध)

विषय में तो वहाँ भी विचार विमर्शोपरान्त यह सिद्ध कर दिया है कि वहाँ भी प्रथमान्त पद के अर्थ में प्रकृत क्रिया के कर्तृत्व की आश्रयता सम्बन्ध से अथवा कर्ता के अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानने में कोई हानि नही है। जहाँ तक मौनत्व के अन्तः प्रविष्ट को मानकर "सैषा स्थली यत्र" इस स्थल पर अभेद के द्वारा लक्षण समन्वय प्रदर्शित किया गया है उसे पण्डितराज ने सिद्ध अवसान मानकर अतिशयोक्ति कहा है उस के विषय में रूय्यक ने अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा भी सीमा निर्धारित करते हुए बताया है कि अतिशयोक्ति में विषय या उपमेय का जहाँ पूर्णतया निगरण हो जाता है। वहाँ उत्प्रेक्षा में विषय निगरण की प्रक्रिया की स्थिति में रहता है। "मुख मानो चन्द्रमा है" इत्यादि में प्रदर्शित अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा के विषय में पण्तिराज के अतिरिक्त किसी को कोई आपत्ति ही नहीं है। भेद प्रभेदों के सम्बन्ध में सविस्तर प्रस्तुतीकरण यहाँ प्रासंगिक नही है। उत्प्रेक्षा अलंकार के कुल परम्परागत वाच्योत्प्रेक्षा ११२ और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के ६४ भेद = १७६ है। किन्तु पण्डितराज ने इन दोनों आलंकारिकों की परम्परा माना है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पण्डितराज का मत स्वाभाविक विरोध को लेकर ही है। अतः परम्परानुसार समीक्षा करने पर द्रविणपुङ्गव का मत ही समीचीन सिद्ध होता है।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति सादृश्यगर्भ अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक अर्थालंकार हैं। इसका कोषगत अर्थ– बढ़ा – चढ़ाकर किया गया कथन है। अर्थात् कथ्य को इतना अधिक बढ़ा चढ़ा कर किया जाये कि वह लोक सीमा को पार कर जाये। उपमान के साथ उपमेय का अभेदत्व या अभिन्नता ही अतिशय है। इस अलंकार में कवि के मन का निःसीम विस्तार हो जाता है। वह किन्हीं दो पदार्थो में साम्य प्रदर्शित करता हुआ अपनी मानसी वृत्ति को एक पर ही इस प्रकार स्थिर कर देता है कि दूसरी उसमें सामने से सर्वथा सर्वदा के लिए अन्तर्हित हो जाती है। कवि ऐसी स्थिति में लौकिक सीमाओं का बन्धन तोड़कर कल्पना विहंग को इतना विस्तृत आयाम देता है कि कार्य की पूर्व भागिता या कारण की परभाविता का वर्णन कर लोक विरूद्ध कथन करता है। मुख्यतः कार्य का मूलउद्देश्य पाठक के मन में कौतूहल उत्पन्न करके चमत्कारोपत्ति होता है।

भामह ने अतिशयोक्ति अलंकार की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है।[१] दण्डी ने अन्यालंकार के आश्रय रूप में इसकी प्रतिष्ठा की है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।

वागीशमहिता भुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

काव्यादर्शः २/२२०

---

१. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिकान्तगोचरम्।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तितमलंकार तया यथा ।। काव्यालङ्कार २/८१

मम्मटाचार्य ने सामान्य लक्षण न सही, केवल प्रभेदों का निरूपण किया है –[1]

अप्पय दीक्षित ने भी चित्रमीमांसा एवं कुवलयानन्द में इसका निरूपण किया है। दीक्षित जी सर्वप्रथम विद्यानाथ के प्रताप रूद्रीय से अतिशयोक्ति का लक्षण देते हैं ––

विषयस्यानुपादानात् विषयुपनिवध्यते।

यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कवि प्रौढ़ोक्तिजीविता।।

चित्रमीमांसा अति. प्र० पृ ४०१

रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्णाध्यवसानतः।

पश्यनीलोत्पलद्वन्द्वान्तिः सरन्ति शिताः सरः

कु० अतिः पृ० ३८

चित्रमीमांसा में वर्णन अपूर्ण ही दिखलाई पड़ता है जैसा कि इस श्लोक से स्वतः ही स्पष्ट है।[2]

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति का निम्न लक्षण दिया है – "विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः तस्योक्तिः।" अतिशय का अर्थ है विषयी के द्वारा विषय का निगरण और उक्ति का अर्थ है इस प्रकार के निगरण का वर्णन करना। अर्थात् विषयी के द्वारा विषय के निगरण[3]

१– निगीर्याध्यवसान्तन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यदर्थोक्तौ च कल्पनम्।।

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः

विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।   काव्य प्रकाश १०/१७/१७०

२– अप्यर्ध चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।

अनूरूरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः।।

चित्रमीमांसा ग्रन्थ सं० पृ० –४१७

३. रसंगाधर पृ० ३०६

का वर्णन ही अतिशयोक्ति है। अतिशयोक्ति में अभेद नहीं होता है जैसे रूपक में विषय में विषयी दोनों उपस्थित रहते है अतः अभेद रहता है किन्तु यहाँ उसका अभाव होता है। रसगंगाधर में इसका उदाहरण निम्न है --

कलिन्दगिरिनन्दिनी तटवनान्तरं भासय-

न्सदापथि गतागत क्लं भरं हरन्प्राणिनाम्।

स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो,

ममाशु हरतु श्रमानतितमां तमालद्रुमः।[2]

अतिशयोक्ति के विविध भेद सावयवा, निरवयवा रूप में प्रथमतः दो प्रकार की होती है। आगे चलकर सम्बन्धासम्बन्ध, साधरणधर्म, भेदाभेद, कार्यकारण के विपर्यय के आधार पर इसके विविध भेद हो सकते हैं प्राचीनों का भी यही मत है।

"एतद् भेदपंचकान्यतमत्वमतिशयोक्ति सामान्यलक्षणं" किन्तु मम्मटाचार्य ने सम्बन्धासम्बन्ध के भेद को अस्वीकार किया है। नव्यमत से निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है। अन्य कोई भी भेद प्रमाण के अभाव में अन्य अलंकार ही हो सकता है अतिशयोक्ति का भेद नहीं।

दीक्षित ने विद्यानाथ के अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण को उद्धृत किया जो कि निम्नवत् हैं।[3]

---

१. रसंगाधर पृ० ३०८

२. " " ३१३

३. विषयस्यानुपादानात् विषय्युपनिवध्यते।

यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता।।

चित्रमीमांसा पृ० ३१६

अर्थात जहाँ विषय का उपादान न करते हुए केवल विषयी का निबन्धन किया जाये।

इस प्रकार इसके चार भेद माने गये हैं ––

१. भेदेऽभेदः

२. अभेदे भेदः

३. सम्बन्धेऽसम्बन्धः

४. असम्बन्धेसम्बन्धः।

भेद में अभेद यथा :

कमलमनम्भसिकमले
कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगे –
त्युत्पातपरम्पराकेयम्।।[1]

यहाँ कमल, कुवलय और कनकलतिका का नायिका के मुखं, नेत्र ओर शरीर से भेद होने पर भी अभेद माना जाता है। भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति है।

अभेद में भेद यथा :–

अन्येयं रूपसम्पत्ति रन्या वैदग्ध्यधीरणी।
नैषा कमलपत्राक्षी सृष्टिः साधारणीविधेः।।[2]

यहाँ रूप आदि में अभिन्न होने पर भी अन्य आदि के प्रयोग से भेद है।

सम्बन्ध में असम्बन्ध यथा :–

"अस्याः सर्गबिधौ प्रजापतिर भूच्चन्द्रोनुकान्तिप्रदः

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ३२०

२. " " ३२०

श्रृंगारैक रसः स्वयं नुमदनो मासो नु पुष्पाकरः।

वेदाभ्यासजडः कथं सः विषय व्यावृत कौतूहलो।।

निर्मातुं प्रणवेम्मन्मेहर मिदं स्पं पुराणो मुनिः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में नायिका के अपूर्व रूप का प्रजापति द्वारा सृजन सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध नहीं माना गया है। अतः सम्बन्धेऽसम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति है।

असम्बन्ध में सम्बन्ध यथा ——

दाहोम्मः प्रसृतिम्पचः प्रचमन्वान्वाष्पः प्रणालोचितः

श्वासाः प्रेंखितदीप्तदीपकलिकः पाण्डिम्निमग्नं वपुः।

किंच्यान्यत्कथयामि रात्रिमखिलं त्वनमार्गवातायने

हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याःस्थितवर्तते।।[2]

यहॉ चन्द्राकिरणों का दावादि से सम्बन्ध न होन पर भी सम्बन्ध माना गया है। अतः असम्बन्धे सम्बन्धः रूपा अतिशयोक्ति है।

किन्तु इसके बाद ही दीक्षित ने "विषयस्यानुपादानात्" अंश की आलोचना की है —— "विषय का उपादान न करते हुए" इस अंश के दो अर्थ हो सकते है।

१— जहॉ विषय के प्रतिपादक अर्थ का अभाव हो।

२— जहां विषय के वाचक पद का अभाव हो।

यदि हम पहला . अर्थ लेते हैं तो विद्यानाथ का लक्षण घटित नही हो सकेगा यथा भेदे अभेदे के उदाहरण में कमल शब्द लक्षणा से मुख का

---

१. चित्रमीमांसा पृ० २१२

२. चित्रमीमांसा पृ० ३२०

प्रतिपादक हो ही जाता है, भले ही वह वाचक न हो। यदि दूसरा अर्थ लेते है तो "चुम्बतीव रजनी मुखं शशी' में विद्यानाथ का लक्षण घटित नहीं होगा। अतः इसके निवारणार्थ काव्य शास्त्रियों ने विषयस्यानुपादानात् के निम्न अर्थ किए है --

१- जहाँ विषय प्रतिपादक शब्द से पृथक विषय प्रतिपादक शब्द का अभाव हो। ऐसे में भी उक्त लक्षण की संगति नहीं बैठेगी ।

यथा –

पल्लव कल्पतरोरेष विशेषः करस्यते वीर,

भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्ण तिरस्कुरूते।।[२]

२- जहाँ विषयि प्रतिपादक से सर्वथा विलक्षण, विषय प्रतिपादक का अभाव हो ऐसा मानने पर भी लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता है यथा –

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं,

नवोपहारेण वयस्कृते न किम्।।

त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा।

नलस्य तन्वी हृदयं विवेशयत्।।[३]

अतः दीक्षित के मत में विद्यानाथ का लक्षण निर्दुष्ट नही है।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० १५३

२. चित्रमीमांसा पृ० ३२२

३. चित्रमीमांसा पृ० १६३

चित्रमीमांसा में १२ अलंकार ही चित्रकाव्य के उपस्कारक है। सामान्यतः आलंकारिकों ने सभी अलंकारों को चित्रकाव्य का उपस्कारक माना है। कुवलयानन्द में अतिशयोक्ति वर्णन पूर्णतः होने के कारण रसगंगाधरकार ने उसी की समीक्षा की है। कुवलयानन्द ने अतिशयोक्ति का निम्नवत् लक्षण दिया गया है।

"विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकविषयस्य विषयिरूपतयाअध्यवसानमाहार्य निश्चयस्तस्मिन् सति अतिशयोक्तिः।"[1]

अर्थात् जहाँ विषय का स्वशब्द से निर्देश न हो अपितु विषयी के वाचक शब्द द्वारा उसका बोध हो वहाँ अतिशयोक्ति होती है। इसी को चित्रमीमांसा सुधा व्याख्याकार धरानन्द ने इस प्रकार रखा है ––

"विषयोल्लेखनमृते विषयाध्यवसायात्माभिधानतः।

तस्योक्तिर्व्यंग्यभिन्ना यातिशयोक्तिः सा मता।।[2]

व्यंजना वादी आचार्य मम्मट ने इसकी महत्ता इतनी स्वीकार की है कि इसके बिना उनके मत में कोई अलंकार ही नहीं हो सकता है।[3] आलंकारवादियों ने इसे सभी का जीवन कहा है। मम्मट और कुन्तक ने इसी को वक्रोक्ति कहा है। किन्तु पण्डितराज ने कुवलयानन्द को आधार मानकर इसकी आलोचना की है। उन्होने रसांगाधर मे अतिशयोक्ति

---

१. कुवलयानन्द पृ० ४४

२. चित्रमीमांसा पृ० –३२५

३. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थोविभाव्यते।
यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलङ्.कारोंऽनया बिना।।
काव्य प्रकाश

प्रकरण में निम्न श्लोक को सामने रखकर समीक्षा की है :-

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलय-

जनानां संतापं त्रिविधिमपि सद्यः प्रशमयन्।

श्रितो वृन्दारण्यं नत निखिल बृन्दारकनुतो।

ममस्वान्तध्वातं तिरयतु नवीनों जलधरः।।

रसंगाधर अति०पृ० ३१०

डा० गुञ्जेश्वर चौधरी ने इस पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है ––

"अत्र विषयधर्मविशिष्टतया कल्पितेन लोकोत्तरजलधररूपेण भगवतः प्रतिपादने तत्समानाधिकरणत्वेन कल्पितानां विषेषणांनामानुगुण्यम्। एवम् च निगीर्णे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानम्"[2] .... तेनावाप्य भेदातिशयोक्ति स्तादूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्यं कुवलयानन्दे यदुक्तं तन्निरस्तमिति पण्डितराजभिप्रायः।।"[3]

किन्तु पण्डितराज के इस मत का नागेश ने अपने गुरू मर्म प्रकाश टीका में खण्डन करते हुए श्री दीक्षित के मत का ही मण्डन किया हैं। उनके मत से पण्डितराज का किया गया खण्डन मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश पर आधारित है। इसके लिए उन्होंने कुवलयानन्द के निम्नलिखित पद्य को समक्ष रखते हुए व्याख्या की है –

---

१. रसांगाधर अभि. पृ० ३१०

२. पण्डितराजकृताप्यदीक्षितसमीक्षाविवेचनम् पृ० १०४

३. रसांगाधर अति० पृ०३१०

सुधावध्दग्रासैरूपवनचकोरैरनुसृताम्

किरंज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनी् ।

उपप्राकाराग्रं प्रगृणु नयने तर्कयमना –

गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।[1]

इत्यादौ प्रसिद्धविषयितावच्छेदक प्रकारकबोधस्य बाधबुद्धि पराहतत्वात्को अयमित्यनेन निरस्तत्वाच्चावश्यं चन्द्रकार्यकारित्वप्रकारकबोधोअंगीकार्यः। एषैव च तादृप्यातिशयोक्ति – कहकर डा० गुज्जेश्वर ने व्याख्यादित किया है जिससे कि हम भी सहमत हैं। अतः नागेश जी ने दीक्षित के मत का मण्डन युक्ति संगत ही किया है।

अतिशयोक्ति की ध्वनि

देवत्वदर्शनादेव लीयन्ते पुण्डराशयः

किं चादर्शनतः पापमशेषमपि नश्यति।।[2]

अतः यहाँ जन्मशतोपमोग्य सुख – दुःख का दर्शनादर्शनजन्य सुख–दुख से निगरण यहाँ ध्वनित होता है।

पडितराज के मत से अतिशयोक्ति में अभेद अनुवाद्य रहता है और रूपक में विधेय। यही दोनों का भेद है।

समीक्षा :

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति अलंकार का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जो कि

---

१. कुवलयानन्द अति० पृ०३६

२. रसगंगाधर पृ० ३१३

नवीन और प्राचीन दोनों दृष्टियों से ही पर्याप्त है। अतिशय और अतिशयोक्ति का सूक्ष्म विवेचन पण्डितराज ने किया।

निगरण को पूर्व की भांति अलंकार न मानकर उस निगरण के कथन को अलंकार न मानकर उस निगरण के कनि को अलड्.कार मानना पण्डितराज भी नवीन तर्कणा है। प्राचीनों के भेदों को नव्यः कहकर किया गया खण्डन वस्तुतः इन्ही की देन है। किन्तु पण्डितराज की खण्डनात्मक बुद्धि व्याकरण और नैयायिक नय के आधार पर आधारित होने से दीक्षित जी का किया गया खण्डन इनके स्वाभाविक विरोध को ही प्रदर्शित करता है जो कि युक्तिसंगत नही है।
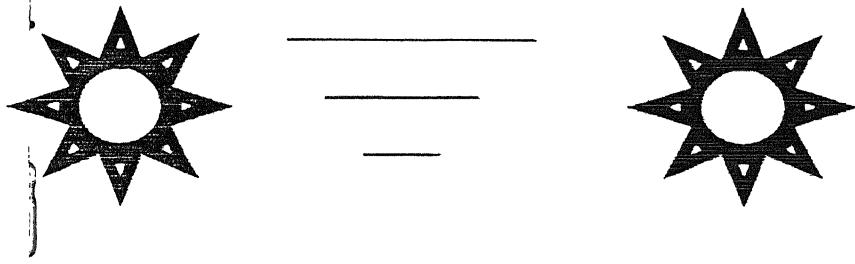
उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के अनन्ताकाश में प्रखरप्रज्ञा एवं उकृष्टमेधा के धनी अलंकारवारी आचार्य दीक्षित जी का एवं काव्य शास्त्रीय मन्थन के अनन्तर निःसृत अमृतमयी कृति रसगंगाधर के प्रणेता प्रखर समालोचक, सर्वविद्या निष्णात आचार्य पण्डितराजजगन्नाथ इन दोनों का अभूतपूर्व योगदान है। एक इस काव्याकाश का सूर्य है, तो दूसरा चन्द्र और दोनों का ही अपने – अपने स्थान पर अद्वितीय महत्व हैं।

दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ का प्रणयन करके अलङ्कार प्रधान वर्णनात्मक चित्रकाव्य को उत्कृष्ट स्थान दिलाया। उनके विचार से अलङ्कार प्रधान, वर्णनात्मक चित्रकाव्य, व्यंग्य प्रधान, ध्वनि काव्य से भी किसी भी माने में कम नहीं है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के परम्पराप्राप्त शास्त्रीय ग्रन्थों के गहन आलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दीक्षित जी की धारणा परम्परावादी काव्य शास्त्रियों की धारणा से सर्वथा भिन्न है। प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने जिनमें व्यंजनावादी आचार्य प्रमुख हैं, चित्रकाव्य को अधम काव्य की श्रेणी में रखा है।[1] विश्वनाथ आचार्य ने इसका उल्लेख करके भी इसके रंच मात्र महत्व को मानना भी स्वीकार नही किया। उनके मत से केवल दो ही काव्य के प्रकार हैः–

१– ध्वनिकाव्य

२– गुणीभूत व्यंग्य

१– शब्द चित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यत्ववरं स्मृतम्।

काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास सू० – ५

पण्डितराज जगन्नाथ इसे गुणीभूत व्यंग्य में ही समाहित करते हैं और इसे गुणीभूत काव्य का अजागरूक प्रकार बतलाते है। किन्तु इन सबसे हटकर आचार्य दीक्षित जी ने चित्रमीमांसा ग्रन्थ का प्रणयन करके यह सिद्ध किया है कि चित्रकाव्य भी ध्वनिकाव्य के समान उत्तम अथवा उत्तमोत्तम कोटि में आ सकता हैं।

काव्यशास्त्रीय निष्कर्ष पर तलस्पर्शी चिन्तन के उपरान्त यह तथ्य उभरता हैं कि इनकी कृतियों में काव्य के चरमलक्ष्य रस के विषय में कुछ भी नहीं कहकर केवल रसोत्पत्ति के माध्यम को खोजने का प्रयास किया गया है और उस पर विस्तृत चर्चा है । किन्तु यहाँ भी मतभेद है। व्यन्जनावादी आचार्यो के मत से रसनिष्पत्ति पद और पदार्थ के व्यंग्य – व्यन्जक भाव से होती हैं। यही कारण रहा कि उन्होनें अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त व्यन्जनावृत्ति को भी स्वीकार किया हैं। किन्तु दीक्षित जी इससे असहमत होते हुए एक नवीन तथ्य और सर्वग्राही चिन्तन प्रस्तुत करते हैं कि जैसे व्यंग्य के माध्यम से वैसे ही अलंङ्कार के प्रयोग से भी रस निष्पत्ति होती है। संस्कृत साहित्य के सुधी, सहृदय पाठकों से यह तथ्य किसी भी प्रकार से नही छिपा है कि कवि कुलगुरूकालिदास, करूणरस को ही आत्मा मानने वाले आचार्य भवभूति आदि के उच्चस्तरीय प्रबन्ध सहृदय मनस में व्यन्जना से नही अपितु चित्रोपस्थिति के कारण ही उच्चकोटि की श्रेणी में आते हैं। राजादुष्यन्त शिकार कर रहे है मृग का और मृग की उच्चावच गमन अरण्य के बीच विविध चित्र–विचित्र स्थितियों में ऐसा दृष्टांत प्रस्तुत करता है कि पाठक मन्त्रमुग्ध सा "अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के रससरोवर में अपने को भुला बैठता है। आचार्य भवभूति की लेखनी की अद्भूत चित्रकारिता का ही प्रमाण है कि राम को रोता हुआ देखकर पत्थर भी रोने लगते हैं,

सरल हृदयों की क्या विशात्।[1]

अतः दीक्षित जी का यह कथन उचित है और हम व्यंग्यप्रधान काव्य को ही काव्य माने तों शायद दो – तीन को छोडकर कोई ग्रन्थ संस्कृत साहित्याकाश में उत्तम काव्य की श्रेणी में आ सके। व्यंजनावादी के पास इस आशंका का कोई समाधान नहीं हैं। अतः हम दीक्षित जी के इस तथ्य से पूर्णतः सहमत हैं कि जिस प्रकार व्यंग्यहीन, वर्णनात्मक, प्रतिकृतिरूप काव्य यदि वह वैचित्र्य, चमत्कृति और रमणीयता से परिपूर्ण है, तो रसास्वाद प्रस्तुत करने में उसी प्रकार पूर्ण सफल हो सकता है, जिस प्रकार दृश्य काव्य के अचेतन दृश्य।

दीक्षित जी ने अलंकार को अलंकार ध्वनि से पूर्णतया पृथक माना और अलंकार ध्वनि में अलंकार लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसके लिए अव्यंग्य शब्द का प्रयोग किया है।[2] उपमा अलंकार के प्रसंग में हम यह पाते हैं कि वस्तु, अलंकार और रसात्मक तीनों भेदो को महाकवियों के काव्यों से उद्‌घृत किया है। वे एक साथ और अलग–अलग भी रह सकते है।[3] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चित्र और ध्वनितत्व परस्पर

---

१. "अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"।

उत्तररामचरितम्

२. "यदव्यंग्यमपि चारू तच्चित्रम्"। चित्र मीमांसा पृ० ३५

३. चित्र मीमांसा पृ० ११८, ११६

विरोधी हैं। वस्तुतः दोनों के सहयोग से एक अति उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण हो सकता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्वनि काव्य में चित्र भी रह सकता है और चित्र काव्य में ध्वनि भी रह सकती है और जो प्रधान होगा उसी से काव्य की संज्ञा होगी। दीक्षित जी का अपनी चित्रमीमांसा कृति के माध्यम से इस तथ्य का उद्घाटन करना लक्ष्य था। ताकि वाच्य प्रधान अलंकारोपस्कृत प्रतिकृति रूप चित्रकाव्य उसी प्रकार रसास्वादन में सहायक हैं जिस प्रकार व्यंग्यात्मक ध्वनि काव्य। दूसरे वही अलंकार जो चित्र काव्य को अलंकृत करते हैं, ध्वनिकाव्य को भी अलंकृत कहते हैं। कभी कभी कुछ बातें इनके अन्य ग्रन्थों से भी लेनी अपरिहार्य थी, किन्तु मूलतः शोध प्रबन्ध का उस प्रसंग से सम्बन्ध न होने के कारण मुझे अपने मोह को छोड़ना भी पड़ा है।

पण्डितराज की जहाँ तक बात हैं उन्होंने अपनी प्रखर मेधा से न केवल सबका खण्डन अपने पाण्डित्य–प्रकर्ष पर किया, अपितु नवीन दृष्टि या नवीन सिद्धान्त को भी स्थापित किया। यही कारण है कि अन्तिम अलंकार शास्त्री होते हुए भी इनका स्थान वहीं है जो आचार्य मम्मट और आनन्द वर्धनाचार्य का रहा है। पण्डितराज के शास्त्रीय ग्रन्थों का गहन चिन्तन करने पर उनकी शैली की निम्न विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं जिनका उन्होंने अवलम्बन किया। न्यायप्रधान लक्षण, व्याकरणप्रधान लक्षण, मीमांसा प्रधान, वेदान्त प्रधान, शास्त्रीय पीठिकाप्रधान और कही–कही खण्डयमानरीति से किया गया लक्षण इनके शास्त्रीय ग्रन्थ की विलक्षणता है जो कि इन्हें अन्यों से अलग करता हैं। न्याय का पण्डितराज के उपर इतना प्रभाव था कि वे उससे अपने को कहीं भी मुक्त नहीं रख सके।

लक्षणगत प्रत्येक पद की स्वयं सार्थकता तथा सप्रयोजकता सिद्ध करना उनके महत्वपूर्ण अंग थे। पदकृत्य का अधिकांशतः प्रयोग उन्होंने अपने मत की सिद्धि के लिए तथा पर मत खण्डन दोनों में ही किया है। इनकी तीसरी विशेषता यह है कि ये परमतर खण्डन में भी अधिक कुशल है। अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों में धन्य है – रसगंगाधर और विलक्षण है रसगंगाधरकार का परमत खण्डन। अपने मुख्य उद्देश्य कि परम्परा से प्राप्त विविध मतों की समीक्षा करना तथा किसी एक का उत्कर्ष सिद्ध करना। इन्होंने तर्क की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही किसी सिद्धान्त को स्वीकार किया हैं। समकालीन अप्पय दीक्षित और प्राचीन आलंकारिको के समालोचना के समय पूज्यभाव का लोप करते हुए पण्डितराज की भाषा में भेद स्पष्टतया दृष्टिगोचर हुआ है। अप्पय दीक्षित के खण्डन में भाषा कटु, कटाक्षपूर्ण एवं असुन्दर तथा अशिष्ट है जिससे यह प्रायः सिद्ध होता है कि ये अपने पूर्वाग्रही दोष से ग्रसित होकर दीक्षित जी का खण्डन कर रहे हैं। जबकि मम्मटादि के प्रति खण्डन करते समय इनकी भाषा विनम्र तथा आदरयुक्त हैं। एतदृर्थ पण्डितराज के द्वारा प्रस्तुत विविध विन्दुओं पर एक अवलोकन आवश्यक है।

<u>मम्मट के मत का खण्डन :</u>

उपजीव्य होने पर भी पण्डितराज जगन्नाथ तर्क भी कसौटी पर किसी को भी नहीं छोड़ते। सर्वप्रथम मम्मट पर प्रहार तथा उनकी शैली तो देखिए –

"यत्तु प्रान्चः "अदोषौ सगुणौ सालंकारो शब्दार्थौ काव्यम्" इत्याहु, तत्र विचार्यते शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् .... गुणालंकारादि निवेशोऽपि न

युक्तः" इत्यादि। –

रसंगाधर पृ० ५–६

विश्वनाथ सम्मत लक्षण की आलोचना दृष्टव्य है ––

" यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्य दर्पणे निर्णीतम् तत्र वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानाम काव्यत्वापत्तेः।

रसगंगाधर पृ० ७

आनन्दवर्धनाचार्य पर भी टिप्पणी करने से न चूकते हुए कहते हैं–

'आनन्दवर्धनाचार्यस्तु' प्राप्त श्रीरेषकस्मात् पुनरपि–इत्यादौ .... चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः।[1]

यहाँ भाषा कितनी शिष्ट, सुष्ठु एवं सन्तुलित है।

मम्मटादि के समान रूय्यक को भी कहीं प्रतिवादी और कहीं प्रमाण के रूप में उद्घृत् किया गया है। अलंकार सर्वस्वकार की प्रामाणिकता दीक्षित जी के प्रति स्वीकृत है।

अंलकार सर्वस्वीकार रूय्यक के खण्डन में भी भाषा कटु अथवा क्लिष्ट नहीं है यथाः–

"..................इत्यलङंकारसर्वस्वकारदिभिरूक्तं तत्र विचार्यते–विरोधमूला हि विभावनाद्यलङ्ंकारः।..................... कुतः पुनरूक्तनिमित्ता विभावना? इत्यादि।"[2]

---

१. रस गंगाधर पृ० २४७ – २४८

२. रस गंगाधर पृ० ४३५ – ४३६

पण्डितराज ने अलंड्कार सर्वस्वीकार तक को कहीं–कहीं प्रामाणिक आचार्य की मान्यता दी है, किन्तु अप्पयदीक्षित को सर्वत्र अप्रामाणिक ही घोषित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी उनका अनुमोदन प्राप्त नहीं होता। मम्मटाचार्य, रूय्यक आदि के विषय में प्रयुक्त भाषा तथा दीक्षित के खण्डन में प्रयुक्त भाषा में जमीन–आसमान का अन्तर है। यथा–मम्मटादि के लिए 'तच्चिन्त्यम् अथवा तत्र विचार्यते, तदपि न रमणीयम् आदि परन्तु दीक्षित के लिए–तदसत्, तत्तुच्छम, किंयुक्तंद्रविणपुङ्गवेन तथा केनापि आलऽकारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवसउक्तिरश्रद्धयैव' जैसे व्यङ्ग्यं भी कसे गये हैं। पण्डितराज की दृष्टि में तो ऐसा लगता है मानो दीक्षित जी आलड्कारिक हैं ही नहीं। वे मात्र अलड्कार सर्वस्वीकार के अनुवादक हैं। उनका कोई भी मत अमान्य अथवा अरमणीय ही नहीं अपितु उपेक्षणीय भी था। अप्पय दीक्षित के सिद्वान्त की तीव्र एवं कटु आलोचना का अन्योन्यालड्कार अच्छा उदाहरण है। अप्पय के मत को अक्षरशः उद्घृत करने के बाद उसकी वाक्य संरचना के द्वारा ही व्युत्पत्ति शैथिल्य प्रमाणित कर दिया गया है। सर्वत्र खण्डन ही प्रधान हैं, किन्तु प्रबन्ध का विषय न होने एवं अतिविस्तार भय से यहां देना अप्रासंगिक होगा सुधी जन इसे रसगंगाधर के पृ० ४५५–४५६ पर देख सकते है।

पण्डितराज ने परमतखण्डन दो आधारों पर किया है –

१. लोक व्यवहारशास्त्र से विरोध दिखलाकर

२. अनुभवासिद्ध दिखलाकर।

पण्डितराज भावयित्री की प्रतिभा के साथ–साथ कारयित्री प्रतिभा के भी धनी हैं जैसा कि एक जगह उन्होने स्वयं कहा हैं:—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं

काव्यं मयात्र विहितं न परस्य किन्चित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।[1]

इतना सब कुछ होते हुए भी पण्डितराज की शैली में कुछ न्यूनतायें भी हैं। किसी एक भी आलंड्कारिक को सर्वत्र प्रामाणिक नहीं माना। समकालीन आलड्ंकारिको के खण्डन के समय जो मम्मट प्रामाणिक आचार्य थे वही कुछ क्षण पश्चात् ही प्रतिवादी के रूप में सम्मुख आते हैं और उनका कोई भी सिद्वान्त प्रमाणस्वरूप नहीं रहता है। जैसा कि काव्य लक्षण के प्रसंग में प्रतिवादी मानकर किस तरह मम्मटाचार्य का खण्डन किया गया है यह देखने लायक है–

" काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोव्यग्यते, काव्यंश्रुतमर्थो न ज्ञातः...... विमतवाक्यंत्वश्रद्वेयमेव।"[2]

सारांश तो यह है कि रूय्यक या अपप्य दीक्षित के मत का खण्डन करते समय काव्यावतार मम्मट व आनन्दवर्धनाचार्य इत्यादि प्रामाणिक आलड्ंकारिक हो जाते हैं तथा उनके ही मत को खण्डित करते समय वह नितान्त अप्रामाणिक हो जाते है। अतः ये प्राचीनों में अनुमन्ता है कि आधुनिकों के यह कह पाना बडा ही कठिन है।

इनकी एक कमी यह भी है कि उन्होनें अपने मत को कभी–कभी स्पष्ट न कहकर घुमा–फिराकर कहा हैं। कभी–कभी ऐसा भी हुआ है कि परमत को अपनी भाषा में कहते हुए उन्होने अपनी ओर से उसमें संशोधन भी कर दिया हैं। अतः उनके मत से मिश्रित

---

१. रस गंगाधर पृ० ३

२. रस गंगाधर पृ० २२ – २३

परमत एक व्यामिश्र मत हो जाता है और दोनों को अलग–अलग करने में कठिनाई होती हैं। अतः स्पष्टता का अभाव इनकी एक सबसे बडी कमी हैं। जबकि नैयायिक होने के नाते इसे स्पष्ट करना इनका सबसे बडा धर्म होना चाहिए। पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओं में विरोध दिखाई देता है और कहीं विषय की सूक्ष्मता को भेदों का आधार माना गया है तो कहीं उसी को बाधक माना गया है। उदाहरणार्थ–अलंङ्कारों के प्रकारों के प्रदर्शन की बात आयी तो कहा कि यदि प्रत्येक उक्तिवैचित्र्य के सूक्ष्म भेद को लेकर नवीन अलंङ्कार माना जायेगा तो अलंङ्कार अनन्त हो जायेंगे क्योकि वाग्मंङ्गी अनन्त हैं। उसी सूक्ष्मता का प्रसंग जब काव्य के भेद करते समय आया तो कह दिया गया कि यदि शब्दार्थालंङ्कार मे होने वाले वयंग्यार्थ के चमत्कार के सूक्ष्म भेद को न माने और केवल अलंङ्कारत्व के आधार पर दोनों को अधम काव्य कहा जाये तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के सूक्ष्म भेद को भी नही मानना चाहिए। इसी प्रकार कई स्थल हैं। एक विषय का इन्होनें कई–कई बार कथन किया है। अतः पिष्ट–पेषण खटकता है। इनकी एक कमी यह भी है कि एक विषय का निरूपण एक स्थान पर न करके कई जगहों पर थोड़ा–थोड़ा करके किया है। पण्डित्य के कारण दुराग्रह की झाकी हमें अप्पय दीक्षित के खण्डन में दिखाई पड़ता हैं। वस्तुतः अप्पय दीक्षित का जो मत हैं उसे ठीक ढ़ंग से न कहकर अपने खण्डन के अनुरूप बनाकर खण्डित करना पण्डितराज का वैशिष्ट्य रहा है। विशेषकर वहां जहां दीक्षित ने स्वयं व्याख्या नही की है वहां ये पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होकर विचरण करते है। दीक्षित का खण्डन तो कहीं केवल **विशेष पद व्याकरण की दृष्टि से असंगत है** कहकर यह उदाहरण दुष्ट है यथाः—

"यदपि तेनैवादोहतम्–यक्ष्याशया हि मन्जूषां...................... इति पदकांक्षितया न्यूनपदम् ।।"[1]

---

१. रसगंगाधर पृ० ४४७

अप्पयदीक्षित के लिए एक बार नहीं अपितु अनेकशः अपशब्द का प्रयोग प्रौढ बुद्धि जगन्नाथ के लिए रंचमात्र भी प्रशंसनीय नही हैं। यथाः–

'अलंङ्कारशास्त्रतत्वानवबोधनिबन्धनम्' ।[1]

तथा– 'द्रविणशिरोमणिभिः'' ।[2]

''केनापि आलङ्कारिकं मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस्य उक्तिरश्रद्धेयैव'' ।[3]

''सहृदयैराकलनीयं कियुक्तंद्रविणपुङ्गवेनेति'' ।[4]

पण्डितराज द्वारा मतवादी का नामोल्लेख न करना भी एक बड़ा दोष है। नैयायिक का एक बडा गुण यह है कि वह भाषा में वक्तव्य की स्पष्टता का ध्यान रखे तथा एक दोष भी है कि इससे क्लिष्टता भी आ जाती है और पण्डितराज भी इसके अपवाद नहीं हैं। अतः सैद्धान्तिक को छोडकर सामान्य विषय प्रतिपादन में वह अनुकूल सिद्ध नहीं होता है।

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी का लक्ष्य केवल सहृदयजनों में सन्तोष हेतु नहीं था अपितु उनके समक्ष अपने युग की पृष्ठभूमि में चित्रकाव्य की शुष्क समस्याओं के रहस्य का उद्घाटन करना था। एक ओर वे चित्रमीमांसा की रचना करते हैं, दूसरी ओर चित्र विधान की योजना करते दिखलाई पड़ते हैं। वे कठोर यथार्थवादी की तरह सभी चित्रों को ठोस रूपों में रखने की कोशिश करते हैं। दीक्षित जी का चित्रविधान उस रूप में होना आवश्यक है जिससे कवि की विशद भावनाओं को एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति मिल सके। विशेषकर उक्त भावना का स्पष्टीकरण तो निम्नों के द्वारा ही होना आवश्यक है। जो कवि का विशेष लक्ष्य रहा है। ''चित्रमीमांसा में वे कितने तलस्पर्शी अवगाहन का परिचय देते हैं इसे

---

१. रसगंगाधर पृ० १३

२. रसगंगाधर पृ०१८०

३. रसगंगाधर पृ० २३६

४. रसगगाधर पृ० ४२०

कोई भी सुधी समालोचक स्वयं देख सकता है। व्याख्याकार नागेशभट्ट ने समय–समय पर उनकी व्याख्या में तर्कयुक्तियों का अवलम्बन लेकर उनके मत की ही पुष्टि की है। हम दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' को एक तर्कपुष्टि कल्पना की संज्ञा दे सकते हैं जहां उनकी विचारधारा विभिन्न फलक पर एक दूसरे के साथ पूर्णतया सम्पृक्त हैं।

जहाँ तक पण्डितराज का यह दर्प कि उन्होंने दीक्षित के मत की परिदीर्घ आलोचना करके उनके लक्षण को पूर्णतया असंगत सिद्ध कर दिया है तथा अपने मत को प्रबल युक्तियों से संगत सिद्ध किया है, वह मात्र पण्डित्य प्रदर्शन के व्यामोह की ही परिणति हैं। हाँ कहीं–कहीं उस खण्डन में कुछ आधार उचित है, किन्तु सर्वत्र उनका खण्डन उचित ही हो ऐसा नहीं हैं। प्रायः जातिगत वैमनस्य एवं अपने पण्डित्यपूर्ण दुराग्रह के वशीभूत होकर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन सहृदय के मानसपटल पर सही नहीं उतरता हैं। उनके द्वारा दीक्षित के लिए कटुक्तियों का प्रयोग तो इन्हे पूर्णरूपेण दुराग्रही सिद्ध करता हैं, किन्तु पण्डितराज का अपूर्व, अद्भूत, मूर्धन्य एवं प्रखर समालोचक के रूप में स्थान सदैव ही समादृत रहेगा। उक्त दोषों के होते हुए भी इन विद्वद्वय का कीर्ति सौरभ उसी प्रकार व्याहत नहीं होता यथा पंङ्काविष्ट पद्मसौन्दर्य। प्रत्युत गुणाधिक्य उनमें दोषों की ओर ध्यान ही नहीं जाने देता हैं। वस्तुतः समालोचकों का अलंड़कार के विषय में जो मत–मतान्तर है उनके समाधान हेतु यह प्रबन्ध सहायक सिद्ध होगा। इन दोनों ही विद्वानों के समीक्षात्मक स्वरूप के विवेचन से यदि किन्चित भी सहृदय साहित्यिकों का नूतनानुशीलन में सहयोग हो सकेगा तो मेरा यह लघु प्रयास सार्थक होगा तथा मै धन्यता का अनुभव करूंगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.	ऋग्वेदः	सायणभाष्यम्
२.	सामवेदः	सायणभाष्यम्
३.	अथर्ववेदः	सायणभाष्यम्
४.	निरूक्तम्	यास्क
५.	अष्टाध्यायी	पाणिनिः
६.	ध्वन्यालोकः	आनन्दवर्धन
७.	शिशुपालवधम्	माघः
८.	काव्यालङ्कारसारसग्रंहः	उद्‌भटः
९.	काव्यालंड्कारसूत्रम्	वामनः
१०.	काव्यादर्शः	दण्डी
११.	अलंड्कारसूत्रम	भामह
१२.	विक्रमोर्वशीयम्	कालिदासः
१३.	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदासः

१४. श्रीमद्भागवतम् — व्यासः

१५. नाट्यशास्त्रम् — मुनिभरतः

१६. महाभाष्यम् — पतन्जलिः

१७. काव्यप्रकाशः — मम्मटः

१८. शब्दव्यापारविचारः — मम्मटः

१९. प्रदीपोद्योतः — गोविन्दठक्कुरः,नागेशश्च

२०. काव्यप्रदीपः — गोविन्दठक्कुरः,नागेशस्च

२१. बालबोधिनी — वामनशिवराम आप्टे

२२. नागेश्वरी(काव्य प्रकाश) — शिवशंकर झा

२३. चन्द्रालोकः — जयदेव

२४. चित्रमीमांसा — अप्पयदीक्षितः

२५. चित्रमीमांसा सुधाटीकान्विता — धरानन्दः

२६. भारतीटीकान्विता — जगदीश मिश्रः

२७. कुवलयानन्दः — अप्पयदीक्षितः

२८. ध्वन्यालोकलोचन — अभिनवगुप्तपादाचार्य

२९. ध्वन्यालोकदीधितिः — बदरीनाथ झा

३०. प्रतापरूद्रयशोभूषणम् — विद्यानाथः

३१. अलंड्कारसर्वस्वम् — रूय्यक

३३. काव्यमीमांसा — राजशेखरः

३४. वक्रोक्तिजीवितम् — कुन्तकः

३५. सरस्वतीकण्ठाभरणम् — भोजदेवः

३६. सिद्धान्तलेशः — अप्पयदीक्षितः

३७. शिवलीलाप्रसक्तिः — अप्पयदीक्षितः

३८. न्यायरक्षामणिः — अप्पयदीक्षितः

३९. नीलकण्ठविजयः — अप्पयदीक्षितः

४०. ररागंगाधर — पण्डितराज जगन्नाथः

४१. अप्पयदीक्षित — डा०नरेन्द्रनाथ शर्मा

४२. रसगंगाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन — कु० चिन्मयी माहेश्वरी

४३. गुरूमर्मप्रकाशः — नागेशः

४४. भामिनी विलासः — पण्डितराज जगन्नाथः

४५. आसफविलासः — पण्डितराज जगन्नाथः

४६. गंगालहरी — पण्डितराज जगन्नाथः

४७. साहित्यदर्पण — विश्वनाथः

४८. चित्रमीमांसा खण्डनम् — पण्डितराज जगन्नाथः

४९. नैषधमहाकाव्यम् — श्री हर्षः

५०. सिद्धान्तकौमुदी — भट्टोजिदीक्षितः

५१. संस्कृत सुकवि समीक्षा — वलदेव उपाध्यायः

५२. संस्कृत साहित्येतिहासः — बलदेव उपाध्यायः

५३. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स — कीथ

५४. पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यग्रन्थो का साहित्यिक अनुशीलन — डा०मनुलता शर्मा

५५. पण्डितराजकृताप्पयदीक्षितसमीक्षा विवेचनम् — डा० गुन्जेश्वर चौधरी

५६. अग्निपुराणम् — व्यासः

५७. पुराणविमर्शः — बलदेव उपाध्यायः

५८. संस्कृतसाहित्येतिहासः — वाचस्पति गौरोला

५९. व्युत्पत्तिवादः — गदाधरभट्टः

६०. शक्तिवादः — गदाधरभट्टः

६१. नैषधमहाकाव्यम् — त्रिभुवननाथ चतुर्वेदः

६२. नैषधमहाकाव्यम् टीका — मल्लिनाथः

६३. शब्दव्यापारविचारः — मम्मटः

६४. चन्द्रिकाचकोरः — जग्गुवेंकटाचार्यः

६५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स — एस.के.डे.

६६. हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

६७. अंलकार शेखर — केशव मिश्र

६८. काव्यमीमांसा — हेमचन्द्र

६९. अंलकारकौस्तुभ — आचार्य विश्वेश्वर

७०. अंलकाररत्नाकर — शोभाकर मित्र

७१. कौण्डिन्यप्रहसन — श्री महालिंग शास्त्री

७२. Proceeding of the tenth Session of all

Indian oriental conference page-176-180 by Dr. Raghwan.

७३. South Indian Manuscript Report page-90-100 by Pro.Hulsh.

७४. What is art — Tolstoy

७५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास — प्रो०काणे

सहायक पत्र–पत्रिकायाः सूची

१. पण्डितपत्रम् — वाराणसी

२. सरस्वती सुषमा — सं० सं० विश्वविद्यालय वाराणसी

३. सुरभारती — बटोदर संस्कृत महाविद्यालय बड़ौदा

४. सुप्रभातम् — वाराणसी

५. सूर्योदयः — भारतधर्म महामंडल वाराणसी

६. संस्कृत सौदामिनी — वृन्दावन

७. वल्लरी — वाराणसी

८. गांडीवम् — वाराणसी

९. प्राची — वाराणसी